आचार्य श्री विशुद्धसागर जी कृत

साणुहव तरंगिणी

(स्वानुभव - तरंगिणी)

प्राकृतानुवादक

श्रमण मुनि आदित्यसागर

साणुहव तरंगिणी

किदिकारो :
समणायरियो विसुद्धसायरो

पाकिद-अणुवादगो :
समणो आदिच्च-सायरो

स्वानुभव तरंगिणी

कृतिकार :
श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी महाराज

प्राकृतानुवादक :
श्रमण मुनि आदित्यसागर

- आशीर्वाद -
  गणाचार्य श्री 108 विरागसागर जी

- कृतिकार -
  दिगंबराचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज

- प्राकृतानुवाद -
  श्रमण आदित्यसागर मुनि

- संपादक -
  डॉ. उदयचंद्र जी, उदयपुर

- प्रथम संस्करण -
  1100 प्रतियाँ 2016

- पुण्यार्जक - राजेन्द्र जैन, शुभम जैन,
  शुलभ जैन, झाँसी (उ.प्र.)

- प्राप्ति स्थल - (1) श्रमण संस्कृति सेवा समिति, इन्दौर
  मो. 9425053171, 9425321151
  (2) श्री नंदीश्वर जिनालय, भोपाल,
  मो. 9425374897

- सहयोग -
  अभिषेक पारसमल जी पहाड़िया, भीलवाड़ा (राज.)

- पृष्ठ चित्र -
  भगवान् मुनिसुव्रतनाथ स्वामी, अतिशय क्षेत्र, जहाजपुर (राज.)

डिजाइन - अबुल (9269232143)

शुभाशीष

पावन वसुंधरा पर भगवद्-तीर्थंकर स्वामी की दिव्य-देशना प्रवाहिमान हुई, जिसमें विश्व के प्राणीमात्र के कल्याण-मार्ग का उपदेश था। बिना उपदेशों के प्राणी हित संभव नहीं है। इसलिए ''क्षायिक-अभय'' जिन देशना दायक अरिहंत भगवान् के होता है। विश्व में बोध का होना तथा अनन्त पूर्वभवों के पुण्यों का संग्रह जब होता है, तब कहीं भव्य प्रज्ञावान् होता है। बिना सुकृत्य के तत्त्व-निर्णय की प्रज्ञा उत्पन्न नहीं होती।

धन्य हैं वे जीव, जिन्हें दग्ध काल अर्थात् पंचमकाल में पंचमगति की साधनभूत भगवती-प्रज्ञा की प्राप्ति हुई है। बार-बार वे जीव प्रशंसा के पात्र हैं, जो दुःखमय काल में आकर भी जिनमुद्राधारण करके जिनवाणी के तत्त्व निर्णय में स्वबुद्धि का सम्यक् प्रयोग कर रहे हैं।

मुनि श्री आदित्य सागर जी जो स्वपर्याय एवं प्रज्ञा दोनों का इस खोटे काल में सम्यक् उपयोग कर रहे हैं, वे इसी प्रकार करते रहें तो वर्तमान पर्याय कल्याण मार्ग को प्रशस्त कर ही लेगी एवं भावि पर्याय में ज्ञानगुण की कैवल्य पर्याय उद्घाटित होगी। कैवल्य का जनक श्रुतज्ञान ही है।

उन्हें मंगल-आशीष है वे इसी प्रकार शब्द-ब्रह्म की आराधना आत्मब्रह्म में लीन होने के लिए करते रहें। 'स्वानुभव-तरंगिणी' कृति का प्राकृत भाषा में भाषान्तर करके पूर्वाचार्यों की श्रुत-परम्परा को वर्धमान किया है। वर्धमान रहे प्रज्ञा उनकी।

ऊँ नमः सिद्धेभ्यः

वर्षावास
भीलवाड़ा (राज.)
2015

श्रमणाचार्य विशुद्धसागर मुनि

प्राक्–प्रमेय

विश्व के सम्पूर्ण दर्शनों में जैन दर्शन में ही तत्त्वों की सम्यक् प्ररूपणा संप्राप्त है। जैन दर्शन में तत्त्वों की सिद्धि के पूर्व आप्त ही अर्थात् सर्वज्ञ की सिद्धि की गई। न्याय विद्या के आद्याचार्य, वागीश्वर, कवियों में परमेष्ठ कहे जानेवाले भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी ने सर्वज्ञ की सिद्धि हेतु सर्वप्रथम आप्तमीमांसा ग्रंथ का सृजन किया। तदुपरांत अपरवर्ती आचार्यों ने आप्तपरीक्षा, अष्टशती, अष्टसहस्त्री, सत्यशासनपरीक्षा प्रभृति नाना गूढ़तम ग्रंथों का प्रतिपादन करके जैन न्याय विद्या को और भी गौरवान्वित किया।

धवला जी में कलिकालसर्वज्ञ भगवन् श्री वीरसेनस्वामी लिखते हैं-'वक्तृप्रमाणं वाक्यप्रमाणं' अर्थात् जो वक्ता प्रमाणित है उसी के वाक्य प्रमाणित होते हैं। अस्तु जैनदर्शन में सर्वप्रथम वक्ता की सिद्धि की गई है।

इस पंचमकाल में विशुद्धचर्या के प्रतिपालक, समयसार के मूर्तरूप, नय और प्रमाण से वस्तु की सिद्धि करनेवाले, सुविशाल संघ के नायक, आचार्य भगवन् गुरुवर विशुद्धसागर जी भी वस्तु-स्वरूप के समीचीन एवं प्रमाणित व्याख्याताओं में प्रथम श्रेणी में हैं। गुरुवर की आगम, युक्ति, गुरूपदेश और स्वानुभव से मिश्रित तत्त्व-प्ररूपणा यथार्थ में हृदयतल को स्पर्शित करती है।

इष्ट-देव भगवन् श्री चन्द्रप्रभस्वामी के ज्ञानकल्याणक के दिन मड़ावरा नगर में शीतकालीन वाचना के सु-अवसर पर भक्ति-उपरांत आचार्य भगवन् ने कहा कि-''आज का दिन बहुत शुभ है, सभी श्रमणों को एक नवीन ग्रंथ प्रारंभ करना चाहिए।''तभी मुनि-श्रेष्ठ अग्रज सुव्रत सागर जी ने ग्रंथों की शृंखला आचार्य भगवन् के समक्ष प्रस्तुत की।

उनमें से आचार्य भगवन् ने मुझ अल्पधी को स्व-लिखित 'स्वानुभव-तरंगिणी' कृति दी। इस कृति को गुरुदेव के करकमलों से प्राप्त करते ही अंतस् के गुरु से ध्वनि गुंजित हुई कि क्यों न इस अनुपम-निधि को अनमोल-निधि का रूप दिया जाए और उस ग्रंथ का 'प्राकृत-अनुवाद' करने के भाव आचार्य भगवन् के पादमूल में किया। उन्होंने भी कह दिया 'तथास्तु'। गुरु

आशीष से कार्य की सिद्धि-प्रसिद्धि सहज ही प्राप्त हो जाती है। सम्पूर्ण विघ्न वैसे ही विलय हो जाते हैं जैसे जिनेन्द्र देव के दर्शन से कर्म। फलतः 31 दिनों में ही 1010 श्लोक प्रमाण ग्रंथ का अनुवाद अतिशय क्षेत्र नवागढ़ जी में पूर्णता को प्राप्त हुआ।

वयोवृद्ध मनीषी प्राकृत विशारद डॉ. उदयचन्द्र जी (उदयपुर) ने अपनी सम्पूर्ण उत्साह शक्ति तथा लग्न से ग्रंथ का संपादन अल्प-अवधि में पूर्ण किया, इस सुकार्य के लिए उन्हें मंगल-आशीष। संघस्थ सभी अग्रज अनुज श्रमणों ने भी समय-समय पर उचित निर्देश देकर कार्य की पूर्णता में सहायता की, उनके प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ। ग्रंथ में कहीं त्रुटि रह गई हो तो सुधिजन अवश्य अवगत कराएँ।

यही सुभावना है कि नय/न्याय/तर्कपूर्ण आगम के इन गहनतम स्वानुभवों को परायण कर आप सभी सुधिजन नव-चेतना को प्राप्त हों। आचार्य भगवन् की कृति उन्हीं के कर-पद्मों में समर्पित है। इस ग्रंथ में शब्द, चिंतन और अनुभव उनका है, सिद्धांत त्रैकालिक है। मेरा इसमें कुछ भी नहीं है, मैं तो अकर्त्ता स्वभावी हूँ। पुनश्च भक्तिपूर्वक आचार्य भगवन् के चरणों में त्रिकाल नमोऽस्तु...

सूरो वीरो धीरो, धम्मपियो धम्मद्धो धम्मरद्धो।
संगह-णिग्गह-कुसलो, गुरू विसुद्धो सदा जयदु।।

चतुर्थ संयम दिवस
8/11/2015
भीलवाड़ा (राज.)

पूज्यपादाराधक
श्रमण आदित्यसागर
(संघस्थ श्रमणाचार्य विशुद्धसागर मुनि)

उदय – भावना

तरंगिणी आद-अणुभूदि-तरंगिणी सहाव-तरंगिणी रदणत्तय-तरंगिणी अत्थि। अम्हाणं आसमो त्थि आरामत्थलो विस्साम-ठाणं च। अस्सिं अत्थि भगवं आदा विसुद्धप्पा। जस्सिं णत्थि किंचि विगारो मलो। सो णिम्मलो पवित्त-पावण-दीवो। जो कुणेदि आदप्पगासणं सिद्धं सरूवं च परिभासेदि। जत्तो मे भवदि आदस्सरूव-आभासो वि।

चिंतगो चिंतेदि चिंतणत्थं आद-परिणामं तस्सिं सद्द-तप्परो किं किं होहिदि जण-जण-कल्लाणं। केसिं परिणामाणं होहिदि आद-गुण-लाहो वि। आद-चिंतण-रदो त्थि साहगो विसुद्ध-सायरो समणाणं आयरियो समणायरियो विसुद्ध-सायरो। सो णिरंतरं अरहंत-भासियत्थं गण-गणहराणं आयरियाणं वयणाणि च चिंतेदि। तेसुं वयणेसुं विरोहो णत्थि को वि। पुव्वावर-विरोह-रहिदाणि सव्वाणि वयणाणि च आलोयत्थं पजण्णसीलो तं देसणं समयसार-देसणं, पवयणसार-देसणं, णियम-देसणं, पुरिसत्थ-देसणं, अज्झप्प-देसणं, तच्चदेसणं च दादूणं सव्वेसिं जणाणं अणंत-उवयारं कुणंतो भव्वाण भव्वा कधं होदु एरिसं मंगल-भावणाए देसणं/उवदेसणं/परूवणं/णिरूवणं कुणेदि सो अज्ज जुव-जुवदीणं च।

समणायरिय-विसुद्धसायरस्स चिंतणे त्थि धम्म-दंसणस्स महणिज्ज-भावो। तेसुं णिबद्धो आयरियवरो मुणीसरो जं परूवेदि तं चिंतिदूणं तेहिं सिस्सेहिं पगिण्हिदा वि णो, ते तं अणुसीलणं करिदूणं णिच्चं आलोयणं विलोयणं च वि कुणेंति। सम्मत्त-णिक्कंखदिट्ठिणा ते गुरुवयणाणि गेण्हेंति। सव्वे सीसा तेसिं पढेंति अज्झएंति आगम-सिद्धंत-सुत्ताणुसारेणं च पुणो पुणो चित्ते समाहेंति। तं पच्छा णिरंतरं सज्झाय-पुव्वग-पागिदगंथाणं सक्किद-भासाणं णिबद्ध-

कव्व-महकव्व-चरित्त-पुराणाहिंतो थुदि-संथवाणं च णिय-अज्झयणस्स विसयं कुव्वेंति। सदद-सज्झाय-परायण पबुद्धसीसा वायणा-पिच्छणादि-पुव्वगं अणुसीलेंति।

पागिद-सक्किद-भासा पुरा भासा अत्थि। पागिद-भासा जण-भासा जण-जण-पिया भासा अत्थि। तासुं च णिरूविद-अंग-उवंगादि-गंथाणि अम्हाण संमुहे विज्जमाणा। आयरिय-धरसेण-भूदबली-पुप्फदंत-कुंदकुंद-जदिवसह-कत्तिगेय-वट्टगेर-देवसेण-पहुदीणं पागिद-विरचिद-कव्व-महोदहिं पढिदूणं सव्वे सीसा आद-चिंतणे रदा होंति।

सक्किदाणं रचिद-महकव्व-पुराण-सुत्त-सिद्धंत-पहुदीणं गंथाणं पढिदूणं ते णो केवलं णाण-वड्ढणं कुणेंति, अवि ते आद-हिद-परिणामे ठिदुं तेहिं अज्झयणेहिं आद-विसुद्ध-सरूवं पत्तुं पजण्णसीला हुंति।

जुवाणं मुणीणं संघो अत्थि विसुद्ध-सायरस्स-मुणिवरस्स। तेसुं च एगो समणो त्थि समणो आदिच्चो। सो णो केवलं आदिच्चो सो तु त्थि परिसीलण-कम्म-रदो मुणी वि। सो अप्प-समयं पढण-पढणे कुणेदि। तेणं परिणामेणं सो अज्ज पागिदे णिबंधं लिहदि, पागिदे अणुवदेंति, पागिदे कव्वं कुणेदि।

आयरिय-देसिदं गंथ-देसणं पढिदूणं तेसिं पागिदे एव णिरूवेदि।

एस महणिज्ज-कज्जो महावीर-परंपरं जीवंतं करिदुं समत्थो त्थि। अहं पुण्णसाली अत्थि, एरिसाणं मुणीणं पागिद-सिक्खणे संलग्गो। किदकिदो त्थि।

डॉ उदयचंद्र जैन
29, पार्श्वनाथ कॉलोनी,
सबीना, उदयपुर (राज.)

ग्रन्थानुक्रम

क्र.सं.	विषय	पृ.क्र.
1.	हुव णादा-दिट्ठा, णेव रागी-दोसी (रागी-द्वेषी नहीं, ज्ञाता-दृष्टा बनो)	2
2.	सकीय-पुण्णापुण्णकत्ता णेव अवरो (अपने पुण्य-पाप का कर्त्ता कोई अन्य नहीं)	4
3.	आदतच्चं हि उवादेयो (आत्म-तत्त्व ही उपादेय)	6
4.	जेणायरियाणं जोगदाणं (जैनाचार्य भगवंतों का योगदान)	8
5.	बलवंत-विही (विधि बलवान्)	10
6.	पज्जायो खु विणासी, दव्वं दु अविणासी (द्रव्य तो अविनाशी है, पर्याय ही विनाशी है)	12
7.	विसमदाए समदा साहणा (विषमता में समता रखना ही साधना है)	14
8.	असीमो कसायो (कषाय असीम है)	17
9.	सुरही सुमणस्स चिण्णं (सुरभि ही सुमन की पहचान है)	19
10.	हेर णिए णियपरमेसरं (निज परमेश्वर को निज में खोज)	21
11.	संजमाचरणेणं जिणदंसणं जगव्वंदं, णेव आडंबरेहिं (जैनदर्शन संयमाचरण से जागद्वंद्य है, आडंबरों से नहीं)	23

Ø- l-	fo"k;	i-Ø-
12.	सुदुल्लहो माणवपज्जायो (मनुष्य-पर्याय दुर्लभता से प्राप्त हुई है)	25
13.	मा लज्जाव अरुहमुद्दं (अरहंत मुद्रा को मत लजाओ)	27
14.	सयलकम्मराया मोहणीयकम्मं (मोहनीयकर्म सभी कर्मों का राजा है)	29
15.	को कं समारिज्ज अज्जपज्जंतं (कौन किसको सुधार सका है आज तक)	32
16.	परणिंदादो णीचगोदबंधो (परनिंदा से नीच गोत्र का बंध होता है)	34
17.	संजमेणं णरपज्जायो उत्तमो, णेव भोगेहिं (नर-पर्याय भोगों के कारण नहीं, संयम के कारण श्रेष्ठ है)	36
18.	जीवसिंगारो आदरिसत्तं (आदर्शता जीवन-शृंगार)	38
19.	णव्व-वरिसो आदभोगखणं (आत्मभोग का क्षण है नया वर्ष)	40
20.	सग-चिदसरूवं मा भुल्ल (स्व-चिद्स्वरूप को मत भूल)	43
21.	सुदिट्ठी करेदि णाणचारित्त-सम्माणं (सम्यक्त्वी करता है ज्ञान-चारित्र का सम्मान)	45
22.	परदोसवादम्हि मोणं (परदोष कहने में रहो मौन)	47
23.	समयसार-लाहोवायो तच्चदिट्ठी (समयसार की प्राप्ति का उपाय : तत्त्वदृष्टि)	49

Ø- l-	fo"k;	i-Ø-
24.	जिणदंसणादु कुण णियदंसणं (जिन दर्शन से कर जिन-दर्शन)	51
25.	णियतित्थ-पत्तीए तित्थवंदणा (निजतीर्थ की प्राप्ति के लिए होती है तीर्थवंदना)	54
26.	आदुत्थाण-सोवाणं सच्चं (सत्य आत्म-विकास का सोपान है)	57
27.	उज्जमहीणो ण होदि वीदरागी (पुरुषार्थहीन नहीं बनता वीतरागी)	59
28.	सव्वे जीवा भावि-परमप्पा (सभी प्राणी भावी-परमात्मा)	62
29	कुण णिय-समणत्तरक्खणं (निज मुनित्व की रक्षा कर)	64
30.	जं लेहु तं पेहु (जिसे लिखा, उसे लख)	66
31.	मुमुक्खू णत्थि सगुण-परावगुणाणं पलेहिदो, सो पालदि सम्मत्तं पवित्तकरणचरणे (मुमुक्षु स्वगुण या परावगुण का व्याख्यता नहीं, वह तो पवित्र करण-चरण में सम्यक्त्व पालता है)	68
32.	परिणामाणं णिम्मलदा सम्म-संजमो (परिणामों की निर्मलता ही सच्चा संयम है)	70
33.	जीवरिऊ अण्णाणं (अज्ञान ही जीवन का शत्रु)	72
34.	सिढिलायार-पंकादो कुण णियरक्खणं (शिथिलाचार की कर्दम से निज की रक्षा करो)	74

Ø- l-	fo"k;	i-Ø-
35.	सम्मत्तहेदुं जिणदंसणं (सम्यक्त्व का हेतु है जिन-दर्शन)	78
36.	धम्मजसणासग-संगदीदु ऊसर (धर्म, यशनाशक संगति से पृथक् रहें)	80
37.	आदविसुद्धिरक्खा मज्झत्थदा (आत्मविशुद्धता की रक्षा माध्यस्थता)	82
38.	सपद-परिणदी सोहणीया (स्वपद परिणति ही शोभनीय है)	85
39.	तव पहु त्थि तुए अंदरम्हि (तेरा प्रभु तेरे अंदर)	88
40.	होहि भवातीदो (भवातीत बनो)	90
41.	गुरुं अंके समाहेज्जा (गुरु-गोद को प्राप्त कर)	94
42.	भोगवेदीए, देहं बलिदाणं कुण (अब छोड़ भोग-वेदी पर नर-देह का बलिदान)	95
43.	चित्त-अथिरवित्ति त्थि आद-पहिगबाहा (चित्त की चंचलवृत्ति आत्मपथिक की बाधा)	98
44.	बहुसंख-कम्मबंधादु रक्खदि विवेगणाणं (विवेकज्ञान बचाता है बहु संख्य कर्मबंध से)	101
45.	अणिट्ठ-हेदु त्थि सिरि-इत्थीओ (साधक की बुराई के प्रबल हेतु-श्री और स्त्री)	103
46.	भववेदणं भुल्लसि कसायोदएणं (कषायोदय से भूल रहा भव-वेदना को)	106

Ø- l-	fo"k;	i-Ø-
47.	कम्मोदएणं सह कज्जोदयो वि अववादहेदू (कर्मोदय ही नहीं, कार्योदय भी अपवाद का हेतु)	110
48.	सग्गुणाणं रुक्खावलिं रुप्प (लगाओ सद्गुणों की वृक्षावली)	114
49.	सत्तु त्थि अवेक्खा (अपेक्षाएँ ही शत्रु हैं)	116
50.	विस्सदिट्ठा-हेदू णियदिट्ठा (निज-दृष्टा को देख, बन जाएगा विश्व-दृष्टा)	118
51.	णमुक्कारे णत्थि, उवसमभावे साहुत्तं (साधुता नमोऽस्तु कराने में नहीं, उपशमभाव में है)	120
52.	पूया-पदिट्ठादु णत्थि सामण्ण-परिचयो (पूजा-प्रतिष्ठा से साधुता की पहचान नहीं होती)	123
53.	साणुहवेणं णिज्जेदि भगवं अप्पा, णेव सद्देहिं (शब्दों से नहीं, स्वानुभव से जानी जाती है भगवान् आत्मा)	125
54.	आदविगासस्स दस-सोवाणाणि (आत्मविकास के दश सोपान)	128
55.	खमावाणी जगक्कल्लाणी (क्षमावाणी जगत्-कल्याणी)	133
56.	अणुवादग-पसत्थी (अनुवादक की प्रशस्ति)	139

मंगलाचरणं

णिम्मोहं णिस्संगं, सासय-सुह-दायगं विमल-णयणं।
णिग्गुण-मरुहं सुद्धं, सुपास जिणवरं णमस्सामि ।।१।।

अर्थ : जो निर्मोही हैं, निस्संग हैं, शाश्वत सुख को देनेवाले हैं, विमल नयन अर्थात् केवलज्ञान से युक्त हैं, निर्गुण हैं, अरहंत हैं, शुद्ध हैं, ऐसे सुपार्श्व जिनदेव को मैं नमस्कार करता हूँ।।1।।

कम्मरयविप्पमुक्कं, जिणवर-उसहं सिवं जिणं सुद्धं।
सव्वण्हुं गुणसिंधुं, अमलं चंदं णमस्सामि ।। २।।

अर्थ : जो सम्पूर्ण कर्म रूपी रज से विमुक्त हैं, जिनवर हैं, श्रेष्ठ हैं, शिव हैं, जिन हैं, शुद्ध हैं, सर्वज्ञ हैं और गुणों के सागर हैं ऐसे मलहीन चन्द्रप्रभ स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ।।2।।

मोणपियो सण्णाणी, भिंड-णयर-गउरवो तहा दिव्वो ।
णरसीहो पुण धीरो, विसुद्ध-सूरी सदा जयदु ।।३।।

अर्थ : जो मौनप्रिय हैं, सद्-ज्ञानी हैं, दिव्य अर्थात् सुंदर काया से युक्त हैं, भिण्ड नगर के गौरव हैं, नरसिंह हैं एवं धीर हैं ऐसे श्रमणों के नाथ विशुद्ध सूरी युगों-युगों तक जयवंत हों।।3।।

हुव णादा-दिट्ठा, णेव रागी-दोसी

हे पण्णप्पा ! जाणगो तुवं। परम्हि रागो ण तुज्झ सहावो। धण-कंचण-कामिणी-पसंसा-णिंदाओ, एईओ णादा दिट्ठा होदूणं पस्स सुण। णवि कुज्जा हरिसविसादं च। इमा साहणा सुसाहगं समारेदव्वो। सव्वे तुज्झ सपक्खिं, लोयसि कसाया पयाडमाणं कारणं विज्जदे, पुणरवि कसायभावपयासं णवि कुणेज्जा। मणो परविसएसु चरदि, तुं पस्सेसि मणं पि, अहो ! कत्थ-कत्थ चरदि, कइ-सच्छंदी हुज्जा। विचिंत एयक्खणे मणो लोयस्स सयलपदत्थोवभोगं इच्छदि। गमेदु किं करदि, इमे पस्स। जदा अणुहवेज्जा मणो लंघदि तदा दिढसंकप्परज्जूहिं बंझित्ता तं सगं पडि कड्ढ। विसयसमीवे ण अवहर। मणो कदाइ हरिसत्ते फुल्लदि, णिंदाए खुब्भदि वा। किं इदमेव विवेगणाणं? मा फुल्ल पसंसाए,

''रागी-द्वेषी नहीं, ज्ञाता-दृष्टा बनो''

हे प्रज्ञात्मन्! तू ज्ञायक स्वभावी है। पर में राग करना तेरा स्वभाव नहीं है। धन, कंचन, काँच, कामिनी, प्रशंसा, निंदा; इन सबको देखो-सुनो ज्ञाता दृष्टा बनकर। हर्ष-विषाद नहीं आना चाहिए। यह साधना भी सच्चे श्रावक को प्रारंभ कर देना चाहिए। सब कुछ तेरे सामने हो रहा है, दिख रहा है कि कषायों को प्रकट कराने के कारण विद्यमान हैं, फिर भी कषाय-भावों को प्रकट नहीं होने दे रहे। मन परविषयों में जा रहा है, आप मन को भी देख रहे हैं कि देखो ये कहाँ-कहाँ जा रहा है, कितना स्वच्छन्दी बन रहा है। चिंतन करो, मन एक क्षण में विश्व के समस्त पदार्थों का उपभोग करना चाहता है। जाने दो। करता क्या है-ये देखो। जब ये अनुभव होने लगे कि मन अति कर रहा है, तब दृढ़ संकल्प की रस्सियों से बांधकर उसे अपनी ओर खींच लेना, विषयों के निकट नहीं ले जाना। मन कभी प्रसन्नता में फूलता है, तो कभी निंदा में कूलता है। क्या यही विवेक-ज्ञान है? प्रशंसा में मत फूलो, प्रशंसनीय निज कार्यों में फूलो।

फुल्ल-पसंसणिज्ज-णियकज्जेसु। मा खुब्भ णिंदाए, खुब्भ णिंदणिज्ज-कज्जेसुं। सपसंसासवणं पत्तेग-जीवो इच्छदि, णेव णिंदं। भूदत्थालोयणा - सवणे सेदो आगच्छेदि, जीवस्स णिहिलहरिसमुउलो मिलेदि, मुहमलिणं होदि व देहतेजो खणम्हि धंसदि। अहो ! णिंदाए सत्ती देहकट्ठेणं विणा जीवो कट्ठसायरे णिमण्णो। कियत्तं अत्थजुत्तं जसजीवणं? भो पण्ण ! तुं सदा कुण णियणिंदं एवं विहड णिंदणीय-किच्चादो, जेण ण होदु सग्गुण-भक्खगा लोगणिंदा।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

निंदा में मत कूलो, निन्दनीय कार्यों में कूलो। अपनी प्रशंसा प्रत्येक व्यक्ति सुनना चाहता है, परन्तु निंदा नहीं। सत्यालोचना सुनने में भी पसीना आता है, व्यक्ति की सम्पूर्ण खुशियों की कलियाँ मुरझा जाती हैं, मुख-मण्डल मलिन हो जाता है, देह का तेज क्षण-मात्र में नष्ट हो जाता है। अहो! निंदा में कितनी शक्ति है। बिना देह को कष्ट दिए व्यक्ति कष्ट के सागर में निमग्न हो जाता है। यश का जीवन कितना अर्थयुक्त होता है? भो प्रज्ञ! तू निज निंदा करते रहना, साथ ही निन्दनीय कृत्यों से पृथकृ रहना, जिससे सद्गुणों की भक्षक भूत लोक-निंदा न हो।।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

सकीय-पुण्णापुण्णकत्ता णेव अवरो

हे विसुद्धप्पा ! पत्तेगजीवेण सह पुण्णापुण्णविवागो बइसदि। पुण्णोदए सुहसाहणं सुलहं पावोदए अदि-दुल्लहं च हुंति। एवं पत्तसामग्गी वि कट्ठदायगा होदि। इत्थि-धण-पुत्तादी वि पाणघादगा होदि। पुण्णापुण्णकत्ता ण कोवि अण्णो। सकीयपुण्णापुण्णकत्ता वयं सयमेव। जस्स उदएणं पि पुण्णकज्जमेव हुज्जा, अरहंतादि-परमेट्ठि-आराहणा जम्हि हुज्जा, सोचेव पुण्णं वरं। जस्स उदए जीवो धम्म-धम्मप्पं विसरे सो पुण्णं वरं णत्थि।

एरिसं पुण्णं दु संसारकारणं हु होदि। पुण्णोदएणं सम्माणं एवं वरभोगसामग्गीलद्धी, जेण इंदियसुहवेदणं, जेण पुणो अहिणवपुण्णासवो, जेण संसारवड्ढी। एरिस-पुण्णोदयादो ता

''अपने पुण्य-पाप का कर्त्ता कोई अन्य नहीं''

हे विशुद्धात्मन्! प्रत्येक जीव के साथ पुण्य-पाप का विपाक लगा रहता है। पुण्योदय में सुख-साधन सुलभ रहते हैं, पापोदय में अति दुर्लभ हो जाते हैं। साथ ही, प्राप्त सामग्री भी कष्टदायक हो जाती है। धन, स्त्री, पुत्रादि भी प्राणघातक हो जाते हैं। पुण्य-पाप का कर्त्ता कोई अन्य नहीं है। स्वयं के पुण्य-पाप के कर्त्ता हम स्वयं ही हैं। वही पुण्य श्रेष्ठ समझना जिसके उदय के साथ भी पुण्य-कार्य ही चलता हो, अरहंतादि-परमेष्ठी की आराधना जिसमें चलती हो; परन्तु वह पुण्य श्रेष्ठ नहीं, जिसके उदय आने पर जीव धर्म व धर्मात्मा को भूल जाए।

ऐसा पुण्य तो संसार का ही कारण बनता है। कारण, पुण्योदय से सम्मान, श्रेष्ठ भोग-सामग्री की प्राप्ति हुई, उससे इन्द्रिय-सुख का वेदन किया, जिससे पुनः नवीन कर्मों का आस्रव हुआ, जिससे संसार की ही वृद्धि हुई। ऐसे पुण्योदय से तो वह पुण्योदय श्रेष्ठ है, जिसके सद्भाव में

सो पुण्णोदयो वरो, जस्स सब्भावे जीवो पंचपरमेट्ठि-आराहणं कुव्वदि, संजमाचरणं परिपालदि, जत्तो असुह-कम्मोदय-विवागो थक्किदूणं जीरदि, वरसाहणं किच्चा णिव्वाणं पप्पदि। उहयकम्माणुभागं जाणिदूणं णिय-परिणामा रक्खित्ता चरेज्जा। वट्टमाणे ण जाणदि कोवि जीवो कदि-पुण्णदव्वाणि तस्स समीवे। जदि णिय-परिणामा ण रक्खदि एवं पुण्णदव्वाणि समत्ताणि ता जुगवं असुहोदयो आगमिस्सदि, पुणो किं कुणहि किं ण कुणहि, इदं चिंतणमवि ण होदि। णियबंधू वि सिविणसमो संलक्खेहिदि। जे कुव्वंति पूयं, ते समीवे वि ण आगमिस्संति। अदो, भो पण्ण ! णिय-पण्णाबलेण णिय-परिणामा संरक्ख।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

जीव पंचपरमेष्ठी की आराधना करता है, संयमाचरण का पालन करता है, जिससे अशुभ कर्मोदय का विपाक शिथिल होकर नष्ट हो जाता है, श्रेष्ठ साधना करके मुक्ति को प्राप्त करता है। उभय कर्मों के अनुभाग को समझकर निज परिणामों को संभालकर चलना। किसी भी जीव को वर्तमान में यह ज्ञान नहीं है कि कितना पुण्य का द्रव्य उसके पास है। यदि निज परिणामों को नहीं संभाल सका और पुण्य-द्रव्य समाप्त हुआ तो, एकसाथ अशुभ का उदय आएगा, फिर चिन्तन भी नहीं बनेगा कि क्या करूँ, क्या नहीं करूँ। अपने भी सपने-से प्रतीत होने लगेंगे। जो पूजा आरती उतारते थे, वे पास नहीं आएँगे। अतः, भो प्रज्ञ! निज प्रज्ञाबल से स्व परिणामों को संभाल।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

आदतच्चं हि उवादेयो

हे पण्णप्पा ! णिहिलतच्चेसुं उवादेयभूदं आदतच्चं। तस्स लद्धीए सम्मं उज्जमं कुण। णिहिलसंसारस्स बहितच्चाणि तुवं बहुवारं अवलोयणं कुणसि पेच्छसि, तस्स अणुहवं पि कुणसि; किण्णु परमतच्चभूद-सुद्धप्पाणुहवं ण कुणसि, ण पेच्छसि णेव सोच्छसि। अहो ! कहं तं आदतच्चं? जम्हि रागद्दोसमोहा णत्थि, जं वण्णादिरहिदं, सुद्ध-चिदरूव-परमपारिणामिग-जाणगं, परसंबंधादो पुहं वा। संसारस्स कोवि पदत्थाणि जं ण फरिसदि एवं तं वि अण्णा णेव फरिसदि, खलु णियसहावे अभिरमदि। तं कदावि परं सगरूवं ण कुव्वदि णेव सयं अण्णरूवं होदि। अज्जं चेयणो लोयस्स कोवि दव्वं, णियरूवं ण कुव्वदि। स-चदुट्ठए हि परिणमदि। असुद्धावत्थाए अणादिकालेण कम्मसंबंधो वि आसी,

''आत्म-तत्त्व ही उपादेय''

हे प्रज्ञात्मन्! आत्मतत्त्व ही सम्पूर्ण तत्त्वों में उपादेयभूत है। उसकी प्राप्ति का सम्यक् पुरुषार्थ कर। संसार के जितने भी बाह्य तत्त्व हैं, उन्हें तूने अनेक बार जाना है, देखा है, उसका अनुभव भी किया है; परन्तु परमतत्त्व शुद्धात्मा का न अनुभवन किया है, न देखा, न सुना। अहो! कैसा है वह आत्मतत्त्व? जिसमें राग नहीं, द्वेष नहीं, मोह नहीं, वर्णादि से रहित, शुद्ध, चिद्रूप, परम-पारिणामिक, ज्ञायक स्वभावी है, पर संबंधों से पृथक् है। संसार का कोई भी पदार्थ जिसे स्पर्शित नहीं किए है, परन्तु वह भी किसी को स्पर्शित नहीं करता, निज-स्वभाव में ही लीन रहता है। उसने न कभी पर को अपने रूप किया है, न स्वयं कभी पर-रूप हुआ। आज तक चैतन्य ने लोक के किसी भी द्रव्य को निजरूप नहीं किया। स्वचतुष्टय में ही परिणमन किया है। अनादि से कर्म का संबंध भी

पुणरवि किंचिवि अप्पा कम्मरूवं ण होसी। अहो अच्छेरं! णीरखीरमिव जस्स संबंधो सो वि तं रूवं ण परिणामेज्जा, एगरूवं ण हुज्जा, भिण्णरूवमेव आसी। पुणरवि मूढो देहादीणि सगस्स भासदि। एवं जस्स अच्चंताभावो तं पि णियरूवं मण्णदि। ताणं भिण्णपदत्थाणं संयोग-विप्पजोगे सुही दुही होदि। लहदि तिव्वाहिणव-कम्मबंधं एंवं संभमदि भवसायरे। भो अप्पा! इमा तुज्झ अण्णाणदसा सुट्ठु णत्थि। अदु पण्णचक्खुणो उग्घाड, णिय-अबंधगदसाए विचिंत।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

रहा अशुद्ध अवस्था में, फिर भी लेश-मात्र यह आत्मा कर्म-रूप नहीं हुआ। अहो! आश्चर्य है। नीर-क्षीरवत् संबंध जिसका रहा, वह भी तत् रूप नहीं परिणमा सका, एक रूप नहीं हुआ, भिन्न रूप ही रहा, फिर भी अज्ञानी जीव देहादि को अपना कहता है। देह को ही नहीं, मूढ भोले जीव तो जिनका अत्यन्ताभाव है, उन्हें भी निज-रूप मानता है। उन भिन्न पदार्थों के संयोग-वियोग पर सुखी-दुःखी हो जाता है। तीव्र नवीन कर्म-बंध को प्राप्त कर लेता है और भव-सागर में भटकता रहता है। भो आत्मन्! यह अज्ञान दशा तेरी ठीक नहीं है। अब तो प्रज्ञा-चक्षु को खोल, निज अबन्धक दशा का चिन्तन कर।।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

जेणायरियाणं जोगदाणं

हे पण्णप्पा ! मज्झ आयरिया मज्झ उवरिं बहु-उवयारं किदा। समणसक्किदीए विगासे णिय-अणग्घ समयं जुंजित्ता पत्तेगविज्जाए सल्लेहदि। अहो ! अणुवमा तेसिं विसालपदिहा एवं बहुमुही-मणणसत्ती। ते धम्मपहावणाए कियत्तं झाणं आसी। सगस्स पहावणं तज्जेदूणं समण-सक्किदीए पहुत्तं वड्ढमाणं कुव्वदि।

जेणदंसणे आयरिय-पुप्फदंत-भूदबलीसामिणा, भगवं-कुंदकुंद-समंतभद्द-अकलंकदेवेणं समो पहाणायरिया हुज्जा। वीरसेण-सामीणं किं वदेमु? सव्वण्हुम्हि पुण्ण-अट्ठं णियत्तमाणं तेसिं सुसमया धवला समो महाटीया। तेसिं चित्तस्स विसुद्धत्तं एवं अगम्मसिद्धंतस्स णादत्तं उब्भावेदि। अण्ण-आयरिएणं वीरसेणसामिं कलिकालसव्वणहू णिद्दिट्ठो। पढमाणुजोए

''जैन आचार्य भगवंतों का योगदान''

हे प्रज्ञात्मन्! हमारे आचार्य भगवंतों ने हमारे ऊपर कितना उपकार किया है। श्रमण संस्कृति के विकास में अपना अमूल्य समय लगाकर प्रत्येक विद्या पर लेखनी चलाई है। अहो! उनकी विशाल प्रतिभा, बहुमुखी विचार शक्ति अनुपम ही है। उन्हें धर्म-प्रभावना का कितना ध्यान था। निज की व्यक्तिगत प्रभावना को छोड़कर श्रमण-संस्कृति के प्रभुत्व को वर्धमान किया है।

जैन दर्शन में आचार्य पुष्पदन्त, भूतबली स्वामी, भगवान् कुंद-कुंद, आचार्य समन्तभद्र, अकलंक दवे जैसे महान् आचार्य हुए हैं। वीरसेन स्वामी का तो कहना ही क्या? सर्वज्ञ पर पूर्ण आस्था को दृढ़ करने वाला उनका सद्-साहित्य धवला जी जैसी 72,000 श्लोक प्रमाण महाटीका उनके अंतःकरण की विशुद्धता और तलस्पर्शी सिद्धांत के ज्ञातत्व को प्रकट करता है। आचार्य वीरसेन स्वामी का स्तवन करते हुए अन्य आचार्य भगवंतों ने उन्हें कलिकाल-सर्वज्ञ की निर्मल उपाधि से

जिणसेणसमिणा महापुराणं समं महा-आरिसगंथं लेहित्तु जेणदंसणं गरिमामयं कदं। उमासामिस्स हत्थसिद्ध-पलेहस्स किं वदेमु? जेसिं ''तच्चत्थसुत्तं'' समयो जेण-साहिच्चं विस्स- साहिच्चकोसेण पउंजदि। अयं चदु-अणुजोगाणं गंथो, जेणसमए सक्कदभासाए पढमो सुत्तगंथो। तहेव णायदंसणस्स पढमो सुत्तगंथो परिक्खामुहकत्ता माणिक्कणंदि-आयरियो। अणेग- पुव्वायरिएण अम्हे एवं विस्ससाहिच्चमेहं अहिणवदिसं दिंतदे त्ति। कहं एदे आयरियभगवंता? तं विसयविण्णाणत्थं तेणं लिविबद्ध-समयस्स मणोजोएण, णिम्मलविसुद्ध - भावेहिं अज्झयणं, चिंतणं मणणं च कुण। अरहंत-देववाणिं सुणित्ता णियभावा पवित्तिदूणं णियप्पस्स सव्वमुहि-विगासं कुण।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

संबोधित किया है। जिनसेन स्वामी ने प्रथमानुयोग पर 'महापुराण' जैसे महान् आर्ष ग्रंथ लिखे और जैन दर्शन को गरिमामय बनाया। उमास्वामी महाराज की हस्त-सिद्ध लेखनी का क्या कहना, जिनके 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रंथ के सृजन ने जैन-साहित्य को विश्व-साहित्य कोष से जोड़ दिया। यह चारों अनुयोगों का एक ग्रंथ है, जो जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा का प्रथम सूत्र-ग्रंथ है। उसी प्रकार दर्शन व न्याय के प्रथम सूत्रग्रंथ 'परीक्षा-मुख-सूत्र' के कर्त्ता आचार्य माणिक्यनंदि महाराज हुए। इस प्रकार अनेक पूर्वाचार्यों ने हम सभी को नहीं अपितु विश्वसाहित्य-मनीषा को नई दिशा प्रदान की है। कैसे थे ये आचार्य-भगवंत, उस विषय को समझना है तो सर्वप्रथम उनके द्वारा लिखित वीतरागवाणी का मनोयोग से, निर्माण विशुद्ध भावों से अध्ययन, चिन्तन, मनन करें। अरिहन्त देव की वाणी का पान कर, निज भावों को पावन कर अपनी आत्मा का सर्वमुखी विकास करें।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

बलवंत-विही

हे पण्णप्पा ! विचित्तं विहिविहाणं। जीवो कुणदि णिय-उज्जमं। उज्जमं पुरिसकत्तव्वं तहा उज्जममेव पुरिसबलं, ता एव कज्जसिद्धी दु विहिणो बले। बिणा उज्जमेण विही वि कज्जयारी ण हुंति। उज्जमिं अयं दंभो वि ण कुज्जा 'सव्वस्स कत्ता हं' 'जं किचि वि होदि सो मए खु होमि'। इदं चिंतणं पुण्ण-अण्णाणेण जुत्तं। पत्तेगदव्व-परियट्टणं सुतंतं। परदव्वं परिणामंते तस्स णिमित्तकत्ता दु हुज्जा, ता एव उवादाणकत्ता खलु सदव्वं। णिच्छएणं ण तुं परकत्ता, णेव परो तुज्झ। अहो ! गंथेसुं पढंति किं विहिविहाणं ? पायो रामस्स रज्जतिलगोस्सवो हवीअ। जिणालएसुं जिणवरस्स मंगलाहिसेग -भत्ति-पूयाओ हवीअ। णिहिल-अजोज्झा णववहूसमो सोहीअ। वंदणवारो सोहीअ। सव्वदो रामस्स रज्जाहिसेग-वत्ताओ होसी,

''विधि बलवान्''

हे प्रज्ञात्मन्! विधि का विधान विचित्र है। जीव अपना पुरुषार्थ करता है। पुरुषार्थ करना तो पुरुष का कर्त्तव्य है तथा पुरुषार्थ तक ही पुरुष का बल है, परन्तु कार्य-सिद्धि तो दैव/विधि के बल पर है। बिना पुरुषार्थ के विधि भी कार्यकारी नहीं हो सकती, लेकिन पुरुषार्थी को यह दंभ भी करने की आवश्यकता नहीं है कि मैं ही सबका कर्त्ता हूँ, जो कुछ हो रहा है वह मेरे द्वारा ही हो रहा है। यह सोच पूर्ण-अज्ञान से भरी है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र है। परद्रव्य परिणमाने में उनका निमित्त कर्त्ता तो हो सकता है, परन्तु उपादान कर्त्ता स्वद्रव्य ही है। निश्चयनय से न तू पर का कर्त्ता है, न पर तेरा। अहो! शास्त्रों में पढ़ा है क्या विधि का विधान? प्रातः राम के लिए राज्य-तिलक की तैयारियाँ चल रही थी, ध्वनि-वृन्दावलियाँ सुनाई जा रहीं थी। जिनालयों में जिनदेव का मंगलाभिषेक, भक्ति, पूजन चल रहा था। सारी अयोध्या नगरी नव-वधू के तुल्य सजाई गई थी। वंदन-वार लगे हुए थे। चारों ओर राम के राज्याभिषेक की चर्चाएँ

किण्णु विहिं इणमो अरुइकारो। मज्झदिवसे वणवासो होसी। एव्व मए सह वि होसी। भोवाल-समाया जिणालए उच्छहीअ। बहुकालदो बालगोवाले सीदकालीण-वायणाए वत्ताओ। आमंतणपत्तं विज्ञं देसी। गुरुवरस्स आसीसो वि आसी। ताएव देवावत्थं, काललद्धिं को कड्ढेज्जा? बंभयारी पत्तं पावित्तु आगमीअ। गुरु-आएसो सेयंसगिरिम्हि संघेण सह आगच्छ। अदो देव-उज्जमस्स समीचीणत्तेण हि कज्जसिद्धी होदि, तम्हि कोवि संसयो णत्थि।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

चल रहीं थी, परन्तु विधि को यह पसंद नहीं था। मध्याह्न में वनवास की घोषणा हो गई। ऐसा ही मेरे साथ भी हुआ था। अशोका गार्डन भोपाल की समाज जिनालय में उत्साह मना रही है। महीनों से बाल-गोपाल में चर्चाएँ हैं कि शीतकालीन वचना होगी। समाचार, आमंत्रण-पत्र विद्वानों और श्रेष्ठिवर्ग को पहुँच गए। आचार्य महाराज का आशीर्वाद भी प्राप्त था। पर दैव की दशा को, काललब्धि को कौन टाल सका? ब्र.भैया पत्र लेकर आ गए। आचार्य महाराज के आदेश हुए कि श्रेयांसगिरी ससंघ पहुँचना है। इससे घटित होता है कि दैव और पुरुषार्थ की समीचीनता से ही कार्य-सिद्धि होती है, उसमें कोई संशय नहीं है।।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

पज्जायो खु विणासी, दव्वं दु अविणासी

हे पण्णप्पा ! लोयम्हि सयलदव्वाणि धुवाणि। कोवि दव्वं कदावि ण णस्सदि। पज्जायस्स विणासो। लोए पज्जायपरियट्टणं पदत्थाभावो पदत्थविणासो उच्चदे। सिद्धंतेण दव्वदिट्ठीए कदावि दव्वविणासो ण होदि। पुणो वि मूढा किलेसंति मज्झ अमुगदव्वं मज्झ संबंधी णस्सेज्जा। मोहवसादो जीवो जिणसिद्धंतं अविण्णाणत्तेण विहा परिदेवदि। धुवे दिट्ठी होस्सदि, ता कदावि विहा सोगं ण करिस्सदि एवं तदेव असदावेदणीय-कम्मासवबंधादो णियरक्खं करिस्सदि। अणिच्चत्तं पेच्छेदूणं, पज्जयदिट्ठिं किच्चा, जीवो णियमूढत्तं खलु उब्भावदि। जावं जीवो दव्वदिट्ठी ण करिस्सदि, तावं सो परिदेवदि। पज्जाया अणिच्चा। तेसिं उप्पाद-विणासो य णिच्छिदो। तेसु जीवो पडिसमयं रागं ठवदि। तस्स पहावादु अज्जं

'द्रव्य तो अविनाशी है, पर्याय ही विनाशी है'

हे प्रज्ञात्मन्! लोक में जितने भी द्रव्य हैं, वे सभी ध्रुव हैं। कोई भी द्रव्य कभी भी विनाश को प्राप्त नहीं होता। विनाश पर्याय का होता है। पर्याय के परिणामन को ही लोक में पदार्थ का अभाव या विनाश कहते हैं, परन्तु सिद्धान्त है कि द्रव्य-दृष्टि से कभी भी द्रव्य का विनाश नहीं होता। फिर भी अज्ञानी प्राणी दुःखी होते हैं कि हमारा अमुक द्रव्य समाप्त हो गया, मेरा सगा नष्ट हो गया। मोहवशात् जिन-सिद्धांत को न समझने के कारण यह जीव व्यर्थ का विलाप करता है। ध्रुव पर दृष्टि रखे, तो कभी भी व्यर्थ में शोक नहीं करना पड़े और तभी असाता वेदनीय कर्म के आस्रव व बन्ध से अपनी रक्षा कर सकेगा। यथार्थता यह है कि अनित्यता को देखकर, पर्यायदृष्टि नहीं बनाएगा, तब तक उसकी आँखों से आँसू मिटनेवाले नहीं हैं। कारण, पर्यायें तो अनित्य हैं। वे तो उपजेंगी और विनाश को प्राप्त होंगी। प्रतिफल उनमें राग स्थापित कर बैठा यह भोला

जीवो सुहसंतिं ण लहेज्जा, खलु घोर-दुक्खवेदणं कुज्जा। णत्थि अण्णदव्वेहिं, ते सव्वे णिच्छिद-समए हि णिय-णिय-सहावादो परिणमंति। ता अण्णादो कोवि अहिपायो णत्थि। ता एव अण्णो तेसु सग-राग-परिणदीए किलेसदि। मोहराग-विसज्जणं कुण। पुणो कुओ परम्हि सुहं दुक्खं णेव गेण्हेज्जा। अखंड-धुव-णियप्पदव्वे ओगेण्हेज्जा, ता णो कोवि लहदि मिच्चुं, णवि जम्मणं। दव्वत्त-गुणत्तेहिं अयरामरो अप्पा। ववहारेण पज्जाय-विओगो मिच्चू, अहिणवपज्जयलद्धी जम्मणं च। ववहारेण गहणम्हि कोवि बाहा णत्थि, ता एव तं सहावं ण मण्णेज्जा। सहावो दु णिच्चाणंद-चेयण्ण - परमाणंद - परमपारिणामिगो तेयालिगो अखण्हो अविणस्सरो त्थि। हे अप्पा ! तुं तमेव सहाव-अवत्थं पस्स, तदेव होहिदि परम-सुही।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

जीव। उसका ही प्रभाव है कि आज तक सुख-शान्ति की साँसे नहीं ले पाया, दुःख ही दुःख का वेदन करता रहा। अन्य द्रव्यों के कारण नहीं, क्योंकि वे सब तो अपने निश्चित समय पर ही अपने-अपने स्वभाव से परिणत हो रहे हैं। उन्हें पर से कोई प्रयोजन नहीं हैं। परन्तु अज्ञ प्राणी उनमें अपनी राग-परिणति के कारण दुःखी हो रहा है। मोह, राग का विसर्जन कर दे। फिर न कहीं 'पर' में सुख स्वीकारेगा, न दुःख। अखण्ड ध्रुव निजात्मद्रव्य पर लक्ष्यपात करेंगे, तो न कोई मृत्यु को प्राप्त होता है, न जन्म लेता है। द्रव्यत्व-गुणत्व से तो आत्मा अजर-अमर है। पर्याय के वियोग को व्यवहार से मृत्यु करते हैं और नवीन पर्याय की प्राप्ति को जन्म कहते हैं। ठीक है, व्यवहार से स्वीकारने में कोई बाधा नहीं है, लेकिन उसे स्वभाव नहीं मान बैठना। स्वभाव तो नित्यानंद चैतन्य, परमानंद परम-पारिणामिक है, त्रैकालिक है, अखण्ड है, अविनश्वर है। हे आत्मन्! तू उसी स्वभाव-दशा को देख, तब ही परम सुखी रहेगा।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

विसमदाए समदा साहणा

हे पण्णप्पा ! जीवे विचित्त-विसमदाओ आगच्छे। इमं ण कोवि विसेसवयणं णेव कोवि अच्छेरं। इमं सहजभावदो गेज्झ। आणंदेणं णिस्सार। महापुरिसजीवणं भोगरयणीसु पहाणं ण हुज्जा। भोगा णियेच्छादो मुंचित्ता, योगं धारित्ता, विसमदाओ पसण्णत्तेण सहित्ता, कम्मोदयं जाणित्ता, एक्को सद्दो वि परमागमस्स सरित्ता पडिक्खणं पडिसमयं चरणं कुणदि। जे वि सुहदुक्खाणि अहोणिसा आगमीअ तं पयडीए सपयडी जुंजित्ता जीवीअ। अहो ! मे सुहदुक्खे कस्स किं दोसो किं उवयारं ? अयं कम्म-वेचित्तं विहिविहाणं। तं ण कोवि णिवारदि, णेव णिवारिस्सदि। पुव्वकिद-कम्मविवागवेदणं सगमेव कीरेज्जा। तित्थेसपदं पत्तप्पं देवो (कम्मं) ण मुंचेज्जा, दु किं मज्झ बिसादो। णिहत्ति-णिकाचिद-रूव-जडिलकम्माणि

''विषमता में समता रखना ही साधना है''

हे प्रज्ञात्मन्! जीवन में अनेक विषमताएँ आती हैं। यह कोई विशेष बात नहीं है, न कोई आश्चर्य। इन्हें सहज भाव से स्वीकार करो। आनंद के साथ निकाल दो। बड़े-बड़े महापुरुषों के जीवन भोगों की रात्रियों में महान् नहीं बने। भोगों को स्वेच्छा से छोड़कर, योग को धारण कर, विषमताओं को प्रसन्नता से सहन कर, कर्मोदय समझकर, एक शब्द 'परमात्मा' को याद रखकर प्रतिफल प्रतिक्षण चरण किया है। जो भी सुख-दुःख दिन-रात आए, उन्हें प्रकृति से अपनी प्रकृति मिलाकर जिए। अहो! मेरे सुख-दुःख में किसी का क्या दोष, क्या उपकार? यह कर्म-वैचिञ्य है, विधि का विधान है। उसे न किसी ने टाला है, न टाल पाएगा। जो पूर्व में किए कर्म हैं, उनके विपाक का वेदन स्वयं को ही करना पड़ेगा। तीर्थेश पद को प्राप्त आत्मा को दैव ने नहीं छोड़ा, तो मेरी क्या बिसात। निधत्ति व निकाचित-रूप जटिल कर्म तो भोगना ही पड़ेगा,

दु भजेज्जा, सत्तीदो अहवा संकिलेसादो। समदादो सहेस्संति दु होहिदि कम्महाणी। संकिलेसादो सहेस्संति दु कट्ठं वड्ढेज्जा तहा अहिणव - असादावेदणीयादि - कम्मासवबंधो वि होहिदि। पत्तेगकम्मस्स सकीय-सकीय-सतंतपयडी। जस्स जस्स कम्मस्स जह णामेण तहेव कज्जं। कम्माणि सग-सहावाणु-सारेण जीवं फलं देंति। हे पण्ण! तुं अण्णस्स सुहासुहकज्जं पेच्छित्तु सुहासुहाणुहवं मा कुण। कोवि पुरिसो तुमे उवसग्गं पि करेदु अहवा कोवि उत्तमकज्जं करेदु अहवा कोवि उत्तमकज्जं विवरीदं गेण्हदु, तस्सिं समए इदमेव विचिंत तस्स किं दोसो? अयं कम्मस्स पीडिदस्स, पावोदयो त्थि तम्हा इत्थं किच्चं कुणदि।

शान्ति से भोगो, चाहे हाय-हाय करके, परन्तु समता से सहन करेंगे तो कर्म की हानि होगी। संक्लेषता से सहन करेंगे, तो कष्ट और भी बढ़ेगा तथा नवीन असाता वेदनीय आदि कर्मों का आस्रव-बंध भी होगा। प्रत्येक कर्म ही अपनी-अपनी स्वतंत्र प्रकृति है। जिस कर्म का जैसा नाम है, वैसा काम भी है। कर्म निज स्वभाव के अनुसार ही जीव को फल प्रदान करता है। हे प्रज्ञ! तू किसी के शुभाशुभ कार्य को देखकर सुख-दुःख का अनुभव मत कर। किसी व्यक्ति ने तेरे ऊपर उपसर्ग भी क्यों न किया हो अथवा किसी श्रेष्ठ कार्य को क्यों न किया हो अथवा किसी श्रेष्ठ कार्य को विपरीत रूप स्वीकार लिया हो, उस समय यही विचारना कि उस बेचारे का क्या दोष? यह कर्म का सताया है, पापोदय चल रहा है, इसलिए इस प्रकार का कृत्य कर रहा है।

पुण्णोदए उत्तमकज्जेसुं पण्णा संचरदि, सुचिंतणं होदि, जं किंचि वि कणदि, तं सव्वं उत्तमोत्तमं होदि। मज्झा ण रुट्ठं, इमम्हि कम्मं हि रुट्ठं। विहा हं रोसं किच्चा कम्मबंधं ण कंखेज्जा।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

पुण्योदय से श्रेष्ठ कार्यों में बुद्धि चलती है। अच्छा चिन्तन बनता है, जो कुछ करता है वह सब अच्छा ही अच्छा होता है। मुझ से रुष्ट नहीं, इस पर कर्म ही रुष्ट है। मैं व्यर्थ में रोष करके कर्म-बंध नहीं करना चाहता हूँ।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

ज्ञानदान का स्वरूप और फल–

विद्या हि विद्यमानेयं, वितीर्णापि प्रकृष्यते।
नाकृष्यते च चौराद्यैः, पुष्यत्येव मनीषितम्।।

किसी को भी विद्या देने से वह घटती नहीं है, अपितु बढ़ती ही है। उस विद्या को चोर लूट नहीं सकते, बन्धु-बान्धव उसमें से हिस्सा नहीं बाँट सकते; वह विद्या तो अपने इच्छित कार्यों को पूर्ण ही करती है।

असीमो कसायो

हे पण्णप्पा ! जीवो अणंतभवं धारदि, जेसुं रागदोसबंध-कहाओ हि कुणदि। भवदो भववड्ढिं हि किदो, भवहाणि-उज्जमं ण किदो। पुण्णजोएण कदा धम्म-धम्मप्प-सग्गुरुसंजोगा वि पत्तो। पज्जायजण्णसुहेसु अभिरमीअ, पज्जाइं णवि पेच्छीअ। भोगो सतिं लहेज्जा, दु कसायाणं सीमा णत्थि। बालवुड्ढं च कसाए संजलंति। माणस्स किं वदेमु? माणुसपज्जाए जम्मादो तिव्वमाणो, अयं सिद्धंतो। माणुसो विवेगसीलो होदूणं पि अहंकारेण सिद्धत्त-सरूवं भुल्लदि। पंचपरमगुरु-अविणयं पि कुव्वदि। अहो ! मूढ-पाणी ! अहंभावो कसायभावो एव। कदावि कसायो हिदरूवो ण होदि। पज्जायो माणसम्माणं लाहदि, जो

''कषाय असीम है''

हे प्रज्ञात्मन्! इस जीव ने अनंत भव धारण किए हैं, जिनमें राग-द्वेष बंध की कथाओं के अलावा और कुछ नहीं किया। भव से भव की ही वृद्धि की है, भवहानि का पुरुषार्थ तो किया ही नहीं है। यदि पुण्ययोग से कभी धर्म, धर्मात्मा,सद्गुरु का संयोग भी मिला, परन्तु तूने भोगों की ज्वाला में पड़कर प्रबल पुण्य-निमित्तों को भी नहीं स्वीकारा। पर्यायजन्य सुखों में लीन रहा, पर्यायी पर दृष्टि ही नहीं गई। भोगों से शान्ति मिली, तो कषायों की आयुसीमा भी नहीं है। बाल से वृद्ध तक कषाय में जल रहे हैं। मान का तो कहना ही क्या? सिद्धांत/नियम है कि मनुष्य-पर्याय में जन्म से ही मान की तीव्रता रहती है। विवेकशील प्राणी होकर भी यह मनुष्य अहं के पीछे अपने सिद्धत्व-स्वरूप को भूला है। पंचपरमगुरु की भी अविनय कर बैठता है। अहो! देख भोले प्राणी! जो अहं है, वह कषाय भाव है। कषाय कभी भी हितरूप नहीं होता है। मानसम्मान प्राप्त करती है

किंचि समयावरंचो णस्सदि। इमम्हि ण कोवि सारो। मरणावरंचो जदि भूमीए खुप्पदि दु गलेस्सदि। जलदे दु भस्सो होहिदि। णत्थि कोवि अण्णकज्जं। संजमं पालदि ता इदं णिस्सारदेहं पि घुणजुद-इक्खु व्व साररूवं होस्सदि। जह सघुण-इक्खू णिस्सारो, अण्णस्स असेवणीयो। तं उव्वरा-भूमीए रुप्पदे ता उत्तमाहिणव-सोमवंत-इक्खुं उप्पज्जदे। तहेव इदं देहं, संजमे रुप्पदे ता उत्तममोक्खफलं दिंतए। तम्हा उवओगपद्धदी णिम्मला ता इदं देहं सव्वहा णिस्सारं णत्थि। अहो ! वट्टमाणदेहे तुज्झ बहु-समयो धंससि, सेसं समयं सहजसरूवे संलग्ग।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

पर्याय, जो कि कुछ समय बाद नष्ट हो जाती है। इसमें कोई भी सार नहीं है। मृत्यु के उपरान्त यदि जमीन में गाड़ दिया, तो सड़ जाएगा। जला दिया, तो राख हो जाएगा। उसके अलावा कोई दूसरा कार्य नहीं है। हाँ, यदि संयम का पालन कर लिया, तो यह निःसार तन भी घुने गन्ने के समान साररूप हो जाएगा। जैसा घुना ईख निःसार होता है, किसी के सेवन योग्य नहीं होता, परन्तु उसे उर्वरा भूमि में लगा दिया जाए तो श्रेष्ठ नवीन सोमवती ईख को उत्पन्न कर देता है। उसी प्रकार यह तन है। संयम में लगा दिया, तो श्रेष्ठ मोक्ष फल को प्रदान करा देगा। इसलिए सर्वथा निःसार ही नहीं है यह तन, यदि उपयोग करने की शैली निर्मल है तो। ध्यान रख! वर्तमान देह में तेरा बहुत समय निकल गया, अब शेष समय को सहज स्वरूप में लगा देना।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

सुरही सुमणस्स चिण्णं

हे पण्णप्पा ! उज्जाणे पुप्फिदसुमणा ससुरहीए दिगंतं वासंति। अहो पुप्फसुरहि ! ते णिहिलजण-हिदयकमलं विहासंति। पहे गममाण-पहिगं पि किंचि समयस्स थंभंति। कुसमं कोवि गेज्झे अहवा णो, सो सग-विण्णाणं दु कारदि एवं कोवि पुप्फं हवे अहवा णो, ताएव पुप्फिदभावा दु हुंति। आदा एग-उज्जाणं, जम्हि धम्मसुमणाणि पुप्फंति। खलु धम्मप्पा सोचेव जं पस्सिदूणं अधम्मप्पा वि धम्मं पडि पहाविदं होंति। ते धम्मं गेज्झेज्जा अहवा ण, सच्चधम्मे तेसिं विस्सासो दु हुज्जा। वीदराग-जिणदेवेण णिद्दिट्ठं धम्मं हि संतिमग्गो। तेण विणा ण कोवि सुहं ण भजीअ, णेव भजेहिदि। धम्मप्पणा होदि लोए जिणसासण-पहावणा,

''सुरभि ही सुमन की पहचान है''

हे प्रज्ञात्मन्! उद्यान में खिले सुमन अपनी सुरभि से दिगंत को सुरभित कर देते हैं। अहो पुष्पों की महक! वे जन-जन के हृदय-कमल को खिला देते हैं। पथ में चलते पथिक को भी क्षण भर के लिए स्तंभित कर देते हैं। चाहे कोई कुसुम को स्वीकारे या न स्वीकारे, परन्तु वह अपनी पहचान तो करा ही देता है तथा कोई पुष्प बने या न बने, पर पुष्पित भाव तो हो ही जाते हैं। यह आत्मा एक उद्यान है, जिसमें धर्म के सुमन खिले हैं। यथार्थतः धर्मात्मा तो वही है जिसे देखकर अधर्मी भी धर्म की ओर आकर्षित होते हैं। वे धर्म को स्वीकार कर सकें या न कर सकें, परन्तु सत्यधर्म पर उनका विश्वास तो हो जाए। शान्ति का मार्ग एकमात्र वीतराग जिनदेव द्वारा उपदेशित धर्म है। उसके बिना न कोई सुख को प्राप्त हुआ, न होगा। धर्मात्मा के माध्यम से जगत् में जिनशासन की प्रभावना होती है, प्राणी मात्र के अंदर दिव्यज्ञान का उद्योतन होता है, मिथ्या तिमिर का विनाश होता है तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र/धर्मज्ञता तो

सव्वजीवाणं अंतसे दिव्वणाणुज्जोदणं मिच्छातिमिर-विणासो वि। णाणदंसणचारित्ताणि धम्मण्हत्तं सो चेव जं अवलोयणे साहुत्तं उप्पादेज्जा। जं साहुं पस्सिदूणं भव्वस्स भावो साहुदिक्खाए ण हुज्जा एवं साहुत्तं पडि सड्ढाणं ण पसावेज्जा, ता तस्स साहुत्ताभावो। ता साहुत्त-लाहुज्जमं कुज्जा। महुर-मिदु-वच्छल्लसहावी साहुपुरिसा। तेसिं चारित्त-पालणे कम्मगालणे हु णिट्ठुरत्तववहारो हुंति, णेव सयल जीवं पडि। जेसिं आसा मुत्तिवहु-लद्धीए संलग्गादि एवं हुंति विसयासादो पुहं। अम्हे जिणवर-उसह-अवलोयणं ण होसी, किण्णु भूदत्थवीदरागी-समणचरिया अम्हे जिणवर-उसहावलोयणं कारेमु। ताणि समणचरणाणि मे चित्ते संचिट्ठेमो।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

वही है जिसे देखने पर साधु बनने के भाव उत्पन्न होने लगें। जिस साधु को देखकर एक भव्य के भाव साधु न बनने के हुए व साधुता के प्रति विश्वास उत्पन्न नहीं करा सके, तो वह अभी साधुता से अधूरा है। उन्हें अपनी साधुता की प्राप्ति में पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। साधु-पुरुष मधुर, मृदु, वात्सल्य-स्वभावी हुआ करते हैं। कठोरता का व्यवहार उनके चारित्र-पालन और कर्मों के गालन में ही होता है, प्राणी मात्र के प्रति नहीं। मुक्तिवधू की प्राप्ति में जिनकी आशा लगी होती है, विषयाशा से परे होते हैं। हमें तीर्थंकर भगवान् के दर्शन तो नहीं हुए, परन्तु एक सच्चे वीरागी मुनिराज की चर्या हमें तीर्थंकर प्रभु के दर्शन करा देती है। वे साधु-चरण मेरे हृदय में निवास करें।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

हेऱ णिए णियपरमेस्सरं

हे पण्णप्पा ! जाणंतं पस्संतं समयं सहजदसा, आगमाणुसार-वित्ती दुल्लहा, दु असंभवो णत्थि। मणोबलो अदढो दु जहेव-मणो अथिरो, चारित्तं डुलेदि, पुणो आगमसिद्धंता विसरेदि। गुडलिप्पणील व्व चारित्तविहूणदसा, जस्स पंखा अणुरत्ता, भिणभिणंति, पाणं संकडे, ता एव गुडं ण मुंचेज्जा। अंते पाणविओगो वि होदि। सो चेव दसा रागी-मोही-भोगी-जीवस्स। भोगगुडे लिप्पित्तु चारित्तपंखा खुट्टेदि। अंते ण मुंचेहिदि णेव भुंजेहिदि। पुराणगंथेसुं इमस्स अणेग-उदाहरणा। जहा पस्स रावण-परिणदिं, कामतिव्वत्ते सीया-हरणं कदं, महासदी-सीलवंती-सीयाए दढमणोबलेण संकप्पसत्तीए रावणो हारीअ। सोण तास सीलभंगं किदो णेव सो अहंकारेण रामस्स सीयं

''निज परमेश्वर को निज में खोज''

हे प्रज्ञात्मन्! आगम को जानना-पहचानना सहज अवस्था है, किन्तु आगमानुसार वृत्ति करना कठिन है, परन्तु असंभव भी नहीं है। यदि मनोबल अदृढ़ है, तो जैसे ही मानस मचला, चारित्र चलायमान हुआ, फिर नहीं याद रहता आगम-सिद्धांत। एक चारित्रहीन व्यक्ति की दशा ठीक गुड़ में चिपकी मक्खी जैसी होती है, जिसके पंख चिपके हैं, भिनभिना रही हैं, प्राण संकट में हैं, परन्तु गुड़ को छोड़ना नहीं चाहती। अन्त में प्राणों का वियोग भी हो जाता है। वही अवस्था रागी-मोही-भोगी जीव की है। भोगरूपी गुड़ में चिपककर, चारित्र रूपी पंखों को तोड़ रहा है। अन्तिम स्थिति यही होगी कि न तो छोड़ पाएगा और न ही भोग पाएगा। पुराण-ग्रंथ इस बात के अनेक उदाहरणों से युक्त हैं। जैसे, रावण की परिणति को देखो, सीता जी का हरण तो कर लिया काम की तीव्रता में, परन्तु महासती शीलवंती सीता जी के दृढ़ मनोबल एवं संकल्प शक्ति के आगे रावण को सिर टेकना पड़ा। वह न महासती का शील

पडिगमीअ। अंते केवलभोगभावणा-पहावादो रामाणुजस्स तिव्वसत्थेहिं मरणं पत्तो, णरए गदो। हे जोई ! सो गहत्थो, रागी, विलासी आसी, तुं जोई। सो असुहचेट्ठादो णरयं भजीअ, जदि जोई कसायवसादो असुहचेट्ठं भजेदि, ता तस्स णरए वि ठाणं णत्थि। सो णियमेण णिगोद-सामी। हे सिद्धसिलाए सामी ! णिय- भावणाओ भगवद-सरूवे समल्ल। तस्स लद्धीए साहुवेसं पगिण्हदे। णिहिलाकंखा-णिरोहं कुण, णिए जिणपरमेस्सर-अणुसंधाणं कुव्व।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

भंग कर पाया, न ही वह अहं के पीछे राम को सीता वापिस दे पा रहा था। अन्त में एकमात्र भोग-भावना के प्रभाव से लक्ष्मण जी के तीव्र शस्त्रों के द्वारा मरण को प्राप्त हुआ, नरक की गोद में चला गया। हे योगिन्! वह तो एक गृहस्थ था, रागी था, विलासी था, परन्तु तू तो योगी है। वह तो अशुभ चेष्टा से नरकवासी हुआ, परन्तु योगी कहीं कषायवश अशुभ चेष्टा को प्राप्त होता है, तो उसके लिए नरक में भी स्थान नहीं होगा। वह तो निगोद का स्वामी बनेगा। हे सिद्धशिला पर विराजने वाले भगवन्! अपनी भावनाओं को भगवत्-स्वरूप में लीन रख। उसकी प्राप्ति हेतु ही साधुवेष स्वीकार किया जाता है। सम्पूर्ण इच्छाओं, कामनाओं का निरोध कर, जिन परमेश्वर की निज में खोज कर।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

संजमाचरणेणं जिणदंसणं जगव्वंदं, णेव आडंबरेहिं

हे पण्णप्पा ! विस्सगुरुत्तं पप्पसक्किदी समणसक्किदी। एत्थ अणेगंत-सियवायज्झुणी गुंजदि। आलोगिग-संजमाचरणं पस्सिदूणं सयल-जगमेयणी अच्छेरं भजेदि। अहो णिग्गंथ- साहणा ! जदा-जदा मग्गम्हि मग्गंति, जणमाणसा अजेणा वुच्चंति-''संतो दु जेण-संतो''। भूदत्थे जेणदंसणं सग-विभूदीए जगव्वंदं णत्थि, पुणो णिद्दोससंजम-चारित्तेहिं जगव्वंदं। वट्टमाणे चरणाणुजोए मिदुत्तं घिप्पेदव्वं, इमा धारणा अजोग्गा। अहो मिगयारी ! जदि तुं असमत्थो दु कुण सड्ढणं। आगमे विगारपवेसं मा वट्टहि। एवंचेव

''जैन दर्शन संयमाचरण से जगद्वंद्य है, आडंबरों से नहीं''

हे प्रज्ञात्मन्! श्रमण संस्कृति विश्व-गुरुत्व को प्राप्त संस्कृति है। यहाँ अनेकांत/स्याद्वाद की ध्वनि गुंजायमान होती है। आलौकिक संयमाचरण को देखकर सारी जनमेदिनी आश्चर्य को प्राप्त होती है। अहो निर्ग्रंथों की साधना! जब-जब मार्ग में विहार करते हैं, जन-मानस/जैनेतर-लोग कहते हैं-देखो, यह है सत्य साधना, तपश्चरण। ये ही तो भगवान् हैं। चरणों में नतमस्तक होते हैं। अपने आपको धन्य मानते हैं। जन-जन में चर्चाएँ करते हैं-''संत कोई है तो जैनसंत हैं।'' यह पूर्ण सत्य है कि जैनदर्शन अपनी विभूति के कारण जगद्वंद्य नहीं है, अपितु निर्दोष संयम, चारित्र के माध्यम से जगद्वंद्य है। आडम्बरों से न कभी श्रमण-संस्कृति की रक्षा हुई है, न होगी। यह धारणा गलत है कि वर्तमान में चरणानुयोग में मृदुता लानी चाहिए। उन शिथिलाचारियों से इतना ही कहना है कि यदि तेरी सामर्थ्य नहीं है तो श्रद्धा रख, परन्तु आगम में विकार को स्थान न दें, यही तेरी श्रमण-

तुज्झ समण-सक्किदिं पडि उदारत्तं। पत्तेगसमण-सावग-पंडिदा सक्किदि-धम्मस्स रक्खा- पहावणा-चरिचाओ कुव्वंति, किण्णु दुक्खेणं लेहामि पीडा तदा होदि, जदा धम्मरक्खगा धम्म-पहावगा धम्मणासगवित्तिं भजेज्जा। एगजीव-रक्खत्थं अण्णजीवविघादं इदं णत्थि जिणदेव - सिद्धंतं। एत्थ णिहिलजीव - रक्खावयणं। उहयजीवरक्खणत्थं कुज्जा कज्जं। ठिदिकरण-उवगूहणंगस्स केह दुरुवओगो होदि? एवं सगस्स सम्मत्तं? णियकित्तीए जदा परोप्परं समणो समणालोयणं कुणे तदा कत्तो समण-सक्किदिरक्खा? इणमो पुण्णरूवेणं असुहाचरणं सक्किदि-णासगं च। हे जदीसर ! जिणवेस-जिणधम्म-समणसक्किदीसु करुणं कुण, भावा णिम्मला कुण, णियलिंगविचारं च कुण।।

।। जयदु भगवं महवीरो।।

संस्कृति के प्रति उदारता होगी। प्रत्येक श्रमण, श्रावक, विद्वान् धर्म व संस्कृति की रक्षा तथा प्रभावना की बात करते हैं, परन्तु पीड़ा तब होती है और दुःख के साथ लेखनी चलाना पड़ रही है, जब धर्म-रक्षक धर्म-प्रभावक भी धर्मनाशक की वृत्ति को प्राप्त हो रहे हों। यह जिनदेव का सिद्धांत नहीं है कि एक जीव की रक्षा के लिए दूसरे जीव का विघात करें। यहाँ तो प्राणी-मात्र की रक्षा की बात कही जाती है। उभय जीवों की रक्षा हो, ऐसा कार्य करना चाहिए। स्थितिकरण व उपगूहन अंग का कैसा दुरुपयोग हो रहा है? एवं स्वयं के लिए सम्यक्त्व है? श्रमण-संस्कृति की कैसी रक्षा है, जब परस्पर श्रमण ही श्रमण की आलोचना करे स्वयं की ख्याति के लिए? यह पूर्णरूपेण अशुभाचरण है, वह संस्कृति का नाशक है। हे यतीश्वर! जिनवेष, जिनधर्म, श्रमण संस्कृति पर करुणा करो, भावों में निर्मलता लाओ, अपने लिंग का विचार करो।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

सुदुल्लहो माणवपज्जायो

हे पण्णप्पा ! सुब्भागासे पगासमं असंखतारगेसु धुवतारगो एगो होदि। अणेग-गएसु गयमुत्ता विरलेसु गएसु। अणेग-गऊसु कामधेणु-गऊ दुल्लहो। चंदणरुक्खेसु गोसीसो, मणीसु पारसमणी जह दुल्लहो तह अणंतपज्जएसु माणुसपज्जायो दुल्लहो। तम्हि वि उत्तमकुल-उत्तमदेस-धम्म-देवसत्थगुरूणं मंगलमय-सामिप्पो बहु-दुल्लहो। भो पण्ण ! रदणत्तयधम्मलद्धी तेसुं पि विसुद्धभावा अदि-दुग्गमा। इच्चेवं दुल्लह-णिम्मलभाव-लाहोवाओ दियंबर-वीदराग-मुद्दा एव। अहो ! ते जीवा विउल- पुण्णवंता, जे अप्पवए पव्वज्जं धारित्ता आदसुह-लाहरदा। तेसिं माणुसपज्जाया सत्थगा-जे भोगा भोगेण विणा आदतच्चरदा। जेण जिणवाणी वुच्चदि भोग-दासो मा हुव, भोगा सदासो कुव्व। कुमार-काले

''मनुष्य-पर्याय दुर्लभता से प्राप्त हुई है''

हे प्रज्ञात्मन्! शुभ्र आकाश में प्रकाशमान असंख्य तारों में ध्रुव तारा एक होता है। अनेक गजों में गजमुक्ता एक दो ही गजों में होती है। अनेक गायों में कामधेनु गाय दुर्लभ है। गोशीष-चंदन वृक्षों में तथा पारसमणि मणियों में जैसे दुर्लभ है, उसी प्रकार अनंत पर्यायों में मनुष्य-पर्याय दुर्लभ है। उसमें भी श्रेष्ठ कुल, श्रेष्ठ देश, धर्म, देव-शास्त्र-गुरु का मंगलयम सान्निध्य दुर्लभ से भी दुर्लभ है। भो प्रज्ञ! रत्नत्रय-धर्म की प्राप्ति, उन सब में भी विशुद्ध भावों का होना अति कठिन है। ऐसे दुर्लभ निर्मल भावों की प्राप्ति का उपाय एकमात्र दिगंबर वीतराग जिनमुद्रा है। अहो! वे जीव बड़े भाग्यशाली हैं, जो अल्पवय में जिनदीक्षा धारण कर आत्म-सुख की प्राप्ति में संलग्न हैं। उन्हीं की मनुष्य पर्याय सार्थक है जो भोगों को बिना भोगे आत्मतत्त्व में लवलीन हैं। जिनके माध्यम से जिनवाणी बोल रही है कि भोगों के दास मत बनो, भोगों को

जे वेरग्गं पावदि, ते एवंचेव सिक्खं देंति। भो भव्व ! कुमारावत्थाए समाहिमरण-साहणं कुण णेव कुमरणस्स। वंदामि परमवेरागी-तवोधणाणं, जे कामपंकलीणत्तेण विणा दुद्धरसीलधम्मं कुमारावत्थाए गेण्हित्तु भोगीणं सिक्खं देंति, हे भोगकीड ! आदाणंदो संतिसीलेसु, णवि रमणीणं रमणे। कंडूरोगव्व विसयभोगा। कंडूकाले सुहं लग्गदि, फलं दुक्खदं। एवं अण्ण-जीवा धिगरत्थु जे सिवसुहदायगं जिणपव्वज्जं धारित्ता वासणाकामणा-कद्दमे लिप्पे, जिणरूवं धारित्ता जिणत्तादो पुहं। मोक्ख-उज्जमादो डरिदूणं, कामी होदूणं, सगपरकल्लाणघादं किच्चा जिणसासणं कलंकित्ता, इमाए वसुहाए भारभूदा जीवंति तहा। लज्जासीलत्तादो विहडित्ता णमोत्थुसासणं मलिणावंति। गहे सग्गिहणी वसित्ता णिद्दोसगहत्थधम्मपालणं कुण।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

अपना दास बना लो। कुमारावस्था में जिन्हें वैराग्य हो गया, वे यही शिक्षा दे रहे हैं। भो भव्य! कुमारावस्था में समाधिमरण की साधना कर, कुमरण की नहीं। मैं नित स्तुति करता हूँ उन परम वैरागी तपोधनों की, जिन्होंने काम-पंक में पड़े बिना दुर्धर शील धर्म को कुमार-अवस्था में स्वीकार कर भोगियों को शिक्षा दी है कि हे भोग के कीड़ों! शान्ति, शील में आत्मानंद है, रमणियों के रमण में नहीं है। विषय-भोग तो खुजली रोग हैं। खुजाते समय सुख-सा लगता है, परन्तु परिणाम दुःखद ही है। साथ ही धिक्कार हो उन अज्ञ जीवों को, जो शिव-सुख-प्रदायिनी जिन-दीक्षा को धारण करके भी कामनाओं/ वासनाओं की कर्दम में फंसे हैं, जिनरूप धारण करके भी जिनत्व से परे हैं। मोक्ष पुरुषार्थ से डरकर, कामी बनकर, स्वपर कल्याण का घात करके जिन-शासन को कलंकित करके, इस क्षोणी/वसुधा पर भार बनकर जी रहे हैं तथा लज्जाशीलता से परे होकर नमोस्तु शासन को धूमिल करा रहे हैं। गृह में गृहिणी के साथ रहकर निर्दोष गृहस्थधर्म का पालन कर।।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

मा लज्जाव अरुह-मुद्दं

हे पण्णप्पा ! आदसत्ति - पदायगो अणंतसुहसरूवो रदणत्तय-धम्मो। रदणत्तएण विणा, कदावि सिवत्तलद्धी ण होदि, ण होहिदि। दव्ववेसगहण-मेत्तं रदणत्तयधम्मो णत्थि। अहो ! केह रदणत्तय-धम्मो, जस्स सुरगणा वि गणयंति, जो मेत्तं माणवपज्जएसु संभवो, अण्णपज्जए असंभवो। अव्वदिं देसव्वदिं च ण हुंति णियप्पाणुभूदी। अव्वद-देसव्वद-दसाए णियप्पाणुभूदीए सड्ढाणं णाणं णाणाणुभूदी दु होदि, चारित्ताणुभूदीरूवाणुहवो ण होदि। धण्णा ते सुदिट्ठिजीवा जेसिं हिदए जिणमुद्दं पडि अदिसय-सड्ढाभत्ती णिब्भरंति। वीदरागदसा-लद्धी मुणिलिंगावत्थाए विणा ण होदि। सो सावगो अरुहमुद्दं पस्सिदूणं भत्तीदो णिब्भरदि। जो जिण-मुणिणो सड्ढादो मुणिभावणं लहदि, सो भव्वो मोक्खमग्गी।

''अरहंत मुद्रा को मत लजाओ''

हे प्रज्ञात्मन्! आत्मशक्ति-प्रदायक और अनंत-सुख-स्वरूप रत्नत्रयधर्म है। रत्नत्रयधर्म के बिना न कभी शिवत्व की प्राप्ति हुई, न होगी। परन्तु द्रव्य-वेष धारण करने मात्र का नाम रत्नत्रयधर्म नहीं है। अहो! कैसा है रत्नत्रयधर्म, जिसकी प्राप्ति के लिए सुरगण भी तरसते हैं, जो एकमात्र मनुष्य-पर्याय में ही संभव है, अन्य किसी भी पर्याय में संभव नहीं है। अव्रती या देशव्रती को स्वात्मानुभूति नहीं होती। अव्रत-दशा में, देशव्रती अवस्था में स्वात्मानुभूति का श्रद्धान तो होता है, ज्ञान होता है, ज्ञानानुभूति होती है, परन्तु चारित्रानुभूतिरूप अनुभव नहीं होता है। धन्य हो उन सम्यग्दृष्टि जीवों को जिनके हृदय में कूट-कूट कर जिनमुद्रा के प्रति श्रद्धा-भक्ति भरी हुई है। वीतराग दशा की प्राप्ति मुनिलिंग की अवस्था किए बिना नहीं होती। अर्हत् मुद्रा को देखकर भक्ति से भर जाता

जो जगप्पुज्ज-जिणमुद्दं घेत्तु वि आदसाहणादो पुहं होदूणं जसोकित्ति-सम्माण-पूयाए धावदि, भोगभावणाए जीवदि, सो साहू होदूणं संसारमग्गी, असंभवो तस्स कल्लाणं। भो पण्ण! तिलोयवंद-मुणि-लिंगावमाणं मा कुण। हे अप्पा! परिणामेसु कालुस्सं, देहादो पावकिरिया-भावणं धारदि एवं देहादो कुचेट्ठाओ कुणदि ता मुंचित्तु जिणवेसं अण्णवेसं धारित्तु तं रूवकिरियाओ कुण। इमा अरुहवेसे असोहणीया। अरुहमुद्दं वंदणीयं हि परिवास।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

है वह श्रावक। जो जिनमुनि की श्रद्धा से मुनि-भावना को प्राप्त हो जाता है, वह भव्य मोक्षमार्गी है। परन्तु जगत्पूज्य जिनमुद्रा को धारण करके भी जो आत्मसाधना से परे होकर यशःकीर्ति, पूजा, सम्मान के पीछे दौड़ रहा है, भोग भावना में जी रहा है, वह साधु होकर भी संसारमार्गी है, उनका कल्याण संभव नहीं है। भो प्रज्ञ! त्रिलोक-वंदनीय मुनिलिंग को अपमानित मत कर। यदि परिणामों में कालुष्य है, शरीर से पापक्रिया करने की भावना रखता है व शरीर से कुचेष्टाएँ भी करता है तो, हे आत्मन्! जिनवेष छोड़कर अन्य वेष को धारण करके उन क्रियाओं को करो। यह सब अरहंत-वेष में शोभा नहीं देता। अरहंत मुद्रा को बंदनीय ही रहने दो।।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

सयलकम्मराया मोहणीयकम्मं

हे पण्णप्पा ! हुव इंदियकसायजयी। कसायिंदियविसयो पबल-रिऊ। जहा रिऊ-भयादो पडिसमयं णिय-रक्खा-उवायं गवेससि, दुग्ग-सत्थ-साला-सेणाबल-अंगरक्खगादीणं आउट्ठसे, तहेव सगविसयकसाय-रिऊसंतो आदरण्णो रक्खाए-आउट्ठ। वट्टमाणे तुमे केवलं उहयरिऊ ण उव्वीलेसि, भूदकाले वि उव्वीलीअ, एदे भविस्से वि उव्वीलेहिसि। तम्हि कोवि संका-पडिसंका अवंछणीया। अहो अप्पा ! तुवं सयलामित्त-णिरोहप्पबंधो ण कुणेसि दु तुवं संतभावेण चिट्ठेसि किण्णु एदे रिऊ तुवं खविस्सेसि। रिउसेणादो हारंतादो अदु तुं कुसलो। तेण पडिअंचित्ता णियवेहवं दाऊणं तेसिं मित्तं हुज्जा। रे मूढप्पा ! किं सत्तू वि कदा

''मोहनीय कर्म सभी कर्मों का राजा है''

हे प्रज्ञात्मन्! इन्द्रियजयी, कषायजयी बनो। इन्द्रिय-विषय और कषाय प्रबल शत्रु है। जैसे शत्रुओं के भय से प्रतिपल अपनी रक्षा का उपाय खोजता है, दुर्ग, शस्त्रशाला, सेनाबल, अंगरक्षक आदि की आत्मराजा की व्यवस्था करता है, उसी प्रकार निज-विषयकषायरूपी शत्रुओं से आत्मराजा की व्यवस्था कर। तेरे लिए वर्तमान में उभय अरिमात्र नहीं सता रहे, अपितु भूत में भी सताते रहे, वे भविष्य में भी सताएँगे। उनके कोई शंका प्रतिशंका की आवश्यकता नहीं है। यदि तूने समूचे शत्रु-निरोध की व्यवस्था नहीं की तो, अहो आत्मन्! तू कितना शांत बैठा रहे पर ये बैरी तुझे नष्ट करते रहेंगे। शत्रुओं की सेना से परास्त होते-होते आज यह स्थिति है कि तू अब अभ्यस्त हो गया है। उनके साथ सम्पर्क करके, निज वैभव लुटाकर उनका मित्र बन गया है।रे मूढ़ात्मन्! शत्रु भी क्या कभी विश्वास के योग्य होता है? उनसे मित्रता की जाती है

विस्सासणीयो? तादो किं मेत्तिं कुज्जा? विवेगी समयं पावित्तु, सत्तुणो मारित्तु, णिक्कंटगो होदूणं सरज्जोवभोगं कुव्वदि। इमेसिं उहयसत्तूणं राया मोहणीयकम्मं एवं णाणावरणीय-दंसणावरणीय-वेदणीय-आउग-णाम-गोद-अंतरायकम्माणि सत्तविहसेणा। रागद्दोसा इमेसिं दुट्ठमोहणीयरण्णो गुत्तमंत्री। भो चेयण-णरेस! तुं अणंतबलसाली। तुज्झ चरमरज्जो सिद्धालयो, जम्हि एदे दुद्धररिऊ पवेसणिसेहं कुणदि। णिय-पोरिसोवओगं किच्चा, चारित्तदुग्गणिम्माणं किच्चा, रदणत्तयखग्गं धारित्ता, गुत्ति-समिदिरूव - उहयकुसलमंतीहिं मंतित्तु, भेदवियाण - असिं उवजुंजित्ता, मिच्छत्तमोहणीय-कम्मरण्णो मुंडं भंजित्ता, संजमसीलपडायं मोक्खभवणे णच्च। सम्मत्तं णाणं दंसणं वीरियं अव्वाबाहत्तं सुहुमत्तं अगुरुलहुत्तं अवगाहणत्तं च अट्ठगुणसमूहरूवं

क्या? विवेकी जीव समय पाकर, शत्रु का हनन करके, निष्कंटक बनकर स्वराज्य का उपभोग करता है। इन दोनों शत्रुओं का राजा है मोहनीय कर्म और ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अंतराय-ये सात कर्म सात प्रकार की सेना हैं। राग-द्वेष इस दुष्ट मोहनीय राजा के गुप्तमंत्री हैं। भो चैतन्य सम्राट्! आप तो अनंत बलशाली हो। तेरा अंतिम राज्य सिद्धालय है जिसमें ये दुर्धर शत्रु प्रवेश नहीं होने दे रहे। निज पौरुष का उपयोग कर चारित्र-दुर्ग का निर्माण कर, रत्नत्रय की खड्ग धारण कर, गुप्ति-समिति रूप दो कुशल-मंत्रियों के साथ मंत्रणा कर, भेदविज्ञान रूपी असि का प्रयोग कर, मिथ्यात्व मोहनीय कर्मराजा के मूर्धा का खण्डन कर संयम-शील ध्वजा को लेकर मोक्ष-भवन पर लहरा दे। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाधत्व, सूक्ष्मत्व अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व इन आठ गुण-समूहरूप अष्टांग बल के साथ अखण्ड

अट्ठंगबलेणं अखंड-चेयण्ण - णयरीए सुहमयोवभोगं कुण। पुणो सत्तू सगसिरं णवि उच्चाविस्सदि।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

चैतन्य-नगरी का सुखमय उपभोग कर, शत्रु अपना सिर पुनः ऊँचा नहीं कर पाएँगे।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

सच्चे शिष्य का स्वरूप–

गुरुभक्तो भवाद्भीतो, विनीतो धार्मिकः सुधीः।
शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रालुः, शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते।।

जो गुरुभक्त, संसार से भयभीत, विनयशील, धर्मात्मा, तीव्रबुद्धि, शान्तचित्त, आलस्यरहित और उत्तम आचरणवाला होता है, उसे ही सच्चा शिष्य कहते हैं।

को कं समाविज्ज अज्जपज्जंतं

हे पण्णप्पा ! समयं पेच्छित्तु समयाणुसारेण पउत्त। विज्जावंतो रूढिवादी हुज्जा, पण्णावंतो आगमाणुसारेण णियपण्णा-पओगं किच्चा पउत्तदे। एवं वट्टमाण-परिवेक्खझाणं पि सोसदि। सम्मं सावगसाहगा लोगागमविरुद्ध-किरियाओ कदावि ण कुणदि। कोवि आगमिग-विसयं सकल्लाणत्थं वियाणेज्जा, विसंवादं णवि कुज्जा। जत्थ विसंवादो आरंभे, तत्थ मज्झत्थो हुज्जा। कुंदकुंदायरिएणं णिद्दिट्ठं-''संसारे णाणाजीवा णाणाकम्मं सव्वाणं सग-सग-लद्धी सव्वेसिं सुतंत-पउत्तीओ व''। जदि वियाणेज्जा दु बुज्झ, अण्णं बला मा उट्टाव। अण्णस्स पुण्णं अण्णे ण परिअट्टदि। सयमेव णिम्मलुज्जमादो कम्मपरिवट्टणं कुव्वंति।

''कौन किसको सुधार सका है आज तक''

हे प्रज्ञात्मन्! समय को देखकर समयानुसार प्रवृत्ति करना। विद्यावान् तो लकीर का फकीर (रूढ़िवादी) हो सकता है, परन्तु प्रज्ञावान् आगम के अनुसार स्वप्रज्ञा का प्रयोग करके प्रवृत्ति करता है। साथ ही वर्तमान परिप्रेक्ष्य का ध्यान रखता है। लोक-विरुद्ध आगम-विरुद्ध कोई क्रिया सत्य श्रावक व साधक कभी भी नहीं करता। किसी भी आगमिक विषय को भी अपने कल्याण हेतु समझना चाहिए, परन्तु विसंवाद करने की आवश्यकता नहीं। जहाँ विसंवाद प्रारंभ हो, वहीं शांत/मध्यस्थ हो जाना चाहिए। आचार्य भगवान् कुंद-कुंद स्वामी ने -नियमसार' जी में बड़ी सुंदर बात लिखी-संसार में नान जीव हैं, नाना कर्म हैं, सभी के अपने-अपने क्षयोपशम हैं, सभी की स्वतंत्र प्रवृत्तियाँ हैं। यदि समझ सके, तो समझना, परन्तु किसी को बलात् प्रेरित नहीं करना। किसी के भाग्य को कोई अन्य नहीं बदल सकता। स्वयं ही निर्मल पुरुषार्थ से कर्म को संक्रमित कर सकते हैं। यदि तूने शास्त्र अध्ययन किया है, तो चिंतन को पवित्र कर। कौन किसको सुधार सका है आज तक? पर के सुधार में

तुवं समयं अज्झसि दु चिंतणं खचहि। अज्जोपाय को कं समारिज्ज? उवादाणं णिम्मलं दु परुण्णयणे णिमित्तं अवस्सं होंति। अमुगणिंदा होदि, अमुगो कुणदि। किं कम्मसिद्धंतं भुल्लादि? जो जीवो भूदे वट्टमाणे वि य जिह तिव्वकम्मबंधं किदं सोचेव उदए विवागे आगच्छदि। णिद्दोसं दोसिदादो पीडिदादो एवं धम्म-धम्मप्पाणो पीडिदादो होदि तिव्वकम्मासवो। सीया पुव्वपज्जाए णिग्गंथसमणणिंदा किदा, तस्स परिणामादो बलभद्दंगणाए वि लोगाववादं पत्ता। वट्टमाणठिदिं पस्सित्तु अण्णं दूसेज्जा दु कम्मसिद्धंतो सदोसमेव गेण्हदि। आलोयगो वि असुहे जीवदि। सो सग-अणग्घजीवक्खणाणि जिणमग्गापहावणाए संलग्गदि। वट्टमाणे वि तिव्वासुह-णामकम्मादिबंधं लहदि। हे अप्पा! मा किलेस। विवागचिंतणं किच्चा धम्मज्झाणावलंबणं भज। पत्तेगजीवाणं असुहकम्मक्खयभावणं कुण।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

निमित्त आवश्य बन सकते हैं, यदि उपादान निर्मल हो तो। अमुक की निंदा हो रही है, अमुक कर रहा है। अरे भाई! कर्म-सिद्धान्त को भूल गया क्या? जिस जीव ने पूर्व में व वर्तमान में भी जैसा तीव्र कर्म का बंध किया होगा वही विपाक उदय में आता है। निर्दोष को दोष लगाने से, पीड़ित करने से और धर्म-धर्मात्माओं को सताने से तीव्र कर्मास्रव होता है। देखो! सीता ने पूर्व पर्याय में निर्ग्रंथ तपोधन की अवहेलना, निंदा की थी, उसका परिणाम देखो, बलभद्र की पत्नि होने पर भी लोकापवाद को प्राप्त हुई थी। वर्तमान स्थिति को देखकर भले किसी को दोष दें, परन्तु कर्म-सिद्धांत तो स्वदोष को ही स्वीकारता है। आलोचक भी अशुभ में जी रहा है। वह अपने अमूल्य जीवन में क्षणों को जिनमार्ग की अप्रभवना में लगा रहा है। वर्तमान में भी तीव्र अशुभ नामकर्मादि के बंध को प्राप्त कर रहा है। हे आत्मन्! क्लेश मत कर। विपाक का विचार कर धर्म-ध्यान का अवलंबन ले। प्रत्येक जीव के अशुभ कर्मों का क्षय हो, यही भावना कर।।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

परणिंदादो णीचगोदबंधो

हे पण्णप्पा ! हुव अप्पालोयगो। अप्पालोयणादो णियुण्णयणं आद-पक्खालणं च होदि, णेव परालोयणादो। णाणी कुणदि अप्पालोयणं, अण्णाणी विलुंपदि परणिंदाए सग-अणग्घसमयं। तं णत्थि णियचिंतणं। अहो अच्छेरं ! णिए जगप्पुज्ज-महव्वदाणि धारित्ता वि जे तं वदमहाणत्तं ण गेण्हंति, पवित्तवेसं धारित्ता परालोयणाए विलुंपंति एवं सगपुग्गल-पूयं कारित्ता सपरवंचणं कुणंति। जिणलिंगं गिज्झित्ता जे जिणत्तलद्धिलक्ख-सुण्णा, जेसिं धम्मस्स दसलक्खाभावो, सम्मत्तस्स अट्ठंगाणं पंजलंकुराणं जणायमाणे जेसिं हिदयखेत्तं उव्वरासत्तिहीणा, ते साहुलिंगम्हि जिणसासण-घादगा कलंकी वा। मुणिमुद्दा आदहिदत्थं गेण्हेज्जा। सामत्थो दु आदहिदेण सह

''पर निंदा से नीच गोत्र का बंध होता है''

हे प्रज्ञात्मन्! आत्म-आलोचक बन। आत्मालोचना से निज का सुधार होता, आत्म-प्रक्षालन होता है, परालोचना से नहीं। ज्ञानी आत्मालोचना करता है, परन्तु अज्ञानी परालोचना/निंदा में अपना अमूल्य समय नष्ट करता है। उसे निज की चिंता नहीं है। अहो! आश्चर्य है उन भोले प्राणियों को देखकर, स्वयं में ऐसे जगत्पूज्य महाव्रतों को स्वीकार कर भी जिनहोंने उन व्रतों की महानता को स्वीकार नहीं किया, पवित्र वेष को धारण कर परालोचना में अपना समय व्यतीत कर रहे हैं तथा स्वपुद्गल की पूजा कराकर स्वपर की वंचना कर रहे हैं। जिनमुद्रा को स्वीकार करके भी जो जिनत्व की प्राप्ति के लक्ष्य से शून्य हैं, धर्म के दस लक्षणों का जिनके अभाव है, सम्यक्त्व के आठ अंगों के प्राञ्जल अंकुरों के उत्पन्न कराने के लिए जिनका हृदय-क्षेत्र उर्वरा-शक्ति से रहित है, वे साधु के वेष में जिनशासन-घातक एक कलंकी-रूप हैं। अरे भाई! मुनि-मुद्रा आत्महित के लिए स्वीकार की जाती है यदि सामर्थ्य है,

परहिदं पि कुज्जा। उत्तमं खु आदहिदं, एसो जिणोवएसो। ता एव परहिद-सेली परालोयणा जिणदेवेण अणिद्दिट्ठं। उवगूहण-ठिदिकरणंगं च तज्जिदूणं परुण्णयणं णवि कीरदि। भो मूढ! जिणलिंगं धारित्ता णिम्मलं णमोत्थुसासण-हस्सं किमु कारेहि। रागद्दोसजुद-जीवणयालं इच्छेसु, दु अंबरं धारित्ता णियवेरं पुण्णं कुण। दियंबरलिंगावमाणं दु ण होहिदि। परणिंदाए सामण्णजीवं णीचगोदासवबंधं होदि दु छलवेस-धारीणं किं अयं सिद्धंतो ण होहिदि? णियमेण होहिदि। भो णरुत्तम-अहिगदप्पा! किंचि विचिंत। किमु पवित्तपज्जायं परुण्णयणेण णियविघादं करसि? जग्ग जग्ग। पुणो दुल्लहा इमा अवत्था। अप्पालोयगो होदूणं पस्स, कहं अहयं?

।। जयदु भगवं महावीरो।।

तो आत्महित के साथ परहित भी करें, परन्तु श्रेष्ठ तो आत्महित ही है, ऐसा जिनदेव का उपदेश है, लेकिन परहित की शैली परालोचना तो जिनदेव ने नहीं कही। स्थितीकरण व उपगूहन अंग को त्यागकर पर का सुधार नहीं किया जाता। भो अज्ञ! जिनमुनिमुद्रा को धारण कर क्यों निर्मल नमोस्तु शासन की हँसी करा रहे हो। राग-द्वेष का ही जीवनकाल जीना चाहता है, तो वस्त्र धारण कर अपने बैर को पूर्ण करो। कम-से-कम दिगंबर मुद्रा की अवहेलना तो नहीं होगी। सत्य तो यही है, परनिंदा करके सामान्य जीव की नीच गोत्र का आस्रव-बंध होता है। तो क्या सिद्धान्त छल-वेषधारियों के लिए नहीं होगा? अवश्य सभी के लिए होगा। अतः नरोत्तम को प्राप्त आत्मा! जरा विचार कर। क्यों पवित्र पर्याय को पर के सुधार में लगाकर निज का विघात कर रहा है? चेत, अब तो चेत। पुनः यह अवस्था मिलना कठिन है। आत्मालोचक बन कर देख, मैं कैसा हूँ?।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

अंजमेणं णरपज्जायो उत्तमो, णेव भोगेहिं

हे पण्णप्पा ! अब्भुदयसुहं सुरदुल्लहं णत्थि। जो वेहवं उवसोहम्मिंदं, सो उवचक्कवत्तिं पि णत्थि। इंदियसुहं पि उवमाणवं थोवं। पुणो किमु णरो वरो ? भो णरुत्तम ! किं कदावि तुं इह विसए विचिंतेसि ? णरपज्जायो भोगेहिं वरो णत्थि। इंदिय-सुहोवभोग-सामग्गीलद्धी होदि, तम्हा वि णत्थि। जिणागमे णरुत्तम-सण्णा वेहवेण णत्थि। जदि सुरदुल्लहं दु सयलसंजम-रदणत्तयधम्मगहणं। सोचेव खलु णरुत्तमसण्णं अभिगच्छदि। पावणसिद्धपज्जायलद्धीए कारणभूदकारणं समयसारकारणं इदं देहं; समयसारो खलु रदणत्तयधम्मो। सिद्धपज्जायलद्धी कज्जसमयसारो। एव्व कारण-कज्ज-समयसारलद्धीए जो मुढो ण कुणदि माणव- देहोवओगं, सो

''नर-पर्याय भोगों के कारण नहीं, संयम के कारण श्रेष्ठ है''

हे प्रज्ञात्मन्! सुर-दुर्लभ अभ्युदय सुख नहीं है। सौधर्म इंद्र के पास जो वैभव है, वह चक्रवर्ती के पास भी नहीं होता। इंदिय सुख भी मनुष्यों के पास अल्प ही है, फिर भी नर श्रेष्ठ क्यों है? भो नरोत्तम! क्या कभी तूने इस विषय पर चिंतन किया? नर पर्याय भोगों के कारण श्रेष्ठ नहीं है। इन्द्रिय-सुखों के उपभोग की सामग्री की प्राप्ति होती है इसलिए भी नहीं। जिनागम में 'नरोत्तम' संज्ञा वैभव के कारण नहीं दी। सुर-दुर्लभ यदि कोई है तो वह है सकल संयम, रत्नत्रय-धर्म का धारण। वही यथार्थ में नरोत्तम संज्ञा को प्राप्त करने का अधिकारी है। पावन सिद्ध-पर्याय की प्राप्ति का कारणभूत (अध्यात्म की भाषा में) कारण समयसार का कारण यह शरीर है, कारण समयसार तो रत्नत्रय-धर्म ही है। कार्य-समयसार सिद्ध-पर्याय की प्राप्ति है। ऐसे कारण व कार्य समयसार की उपलब्धि में जो अज्ञ इस मानव देह का उपयोग नहीं करता है, वह नरोत्तम नहीं

णराधमो णेव णरुत्तमो। भोगपंके रदणत्तयमय- पज्जायं पाडदि। अहो अच्छेरं ! आगमपुराणवेत्ता वि इंदिय- गामणिवासी हुंति। जेसिं णिवासो आदगामो आसी, कहं ते आदरामं मुंचंति? उत्तजीवाणं भवितव्वत्तं अवस्सं असुहं। काललद्धिं ण भजेज्जा। उज्जमेण विणा कहं काललद्धी संघडिस्सदि? उज्जमत्ते हि कज्जं समए होदि, णेव अण्णहा। भो अप्पा ! उवसग्गपरिसहकाले धिज्जं धारेज्जा। असंजदजीवे एगसमयं पि धिज्जं ण धारेज्जा, सिग्घत्तेण संजममग्गं गेज्झित्ता णिस्सेयस-सुहलद्धीए सम्मं उज्जमं कुज्जा।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

वह तो नराधम है। भोगों की कर्दम में रत्नमयी पर्याय को पटक रहा है। अहो! आश्चर्य है कि आगम/पुराण-वेत्ता भी इन्द्रिय-ग्राम के निवासी बने हैं। अरे, जिन्हें आत्म-ग्राम में निवास करना था, वे कैसे आत्मराग को छोड़ रहे हैं? अवश्य ही ऐसे जीवों की भवितव्यता अशुभ है। काललब्धि को प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु बिना पुरुषार्थ काललब्धि भी घटित कैसे होगी? पुरुषार्थ करने पर ही कार्य समय पर होता है, अन्यथा नहीं। भो आत्मन्! उपसर्ग/परीषह के आने पर तो धैर्य धारण करना चाहिए, परन्तु असंयमी-जीवन जीने में एक क्षण भी धैर्य धारण करने की आवश्यकता नहीं है। जितनी शीघ्रता हो उतनी जल्दी संयम-मार्ग को स्वीकार करके निःश्रेयस सुख की प्राप्ति का सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

जीवसिंगारो आदरिसत्तं

हे पण्णप्पा ! आदरिसत्तं जीवसिंगारो। जीवेदुं अप्पजीवं जइ वा भजेदु, दु आदरिसत्तेण जीवेज्जा। णंताणंद-दायगजीवणं तस्स होदि जस्स जीवे आदरिसत्तस्स धुवतारा विलसदि। किंचिजीवा आदरिसेसु सगं पस्संति, किंदु ते उत्तमा जेसुं सगं सव्वे पस्संति। परादो तव उवमा दिज्जा सो ण महाणत्तं, तव उवमा परं दिज्जा दु महाणत्तं। कोवि णयर-खेत्तमित्तगुरुपरिचयो तुमे, एवंचेव आदरिसत्तं। पत्तेगजीवो सग-आदरिसत्तं उब्भावेज्जा, अण्णस्स पडिरूवं णवि कुज्जा। पडिरूवत्त-पप्पं आदरिसत्तं वत्तित्तं बहुसमयपज्जंतं ण चेट्ठदि। सो पत्तसुमणसुगंधो। जावं गंधो पडदि तावं सुगंधो।गंधाभावे केवलं पत्तं। तहेव जे जीवा णिय-खादि-

''आदर्शता जीवन-शृंगार''

हे प्रज्ञात्मन्! आदर्शता जीवन का शृंगार है। जीने को अल्प जीवन क्यों प्राप्त न हो, पर जीना आदर्शता के साथ। अनंत आनंददायक जीवन उसी का बन पाता है जिसके जीवन में आदर्शता का ध्रुव तारा चमकता है। कुछ लोग आदर्शों में स्वयं को देखते हैं, परन्तु महान् वे होते हैं, जिनमें अपने आपको सभी देखते हैं। दूसरे से तेरी उपमा दी जाए वह महानता नहीं, अपितु तेरी उपमा को दी जाए तो महानता है। किसी नगर, क्षेत्र, मित्र व गुरु से तेरी पहचान हो यह आदर्शता नहीं, किन्तु आदर्शता तो उसमें है कि नगर, क्षेत्र, माता, पिता, गुरु की पहचान तेरे द्वारा हो। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निजी आदर्शता को प्रकट करने की आवश्यकता है, न कि किसी की नकल करने की। नकल से प्राप्त आदर्शता व व्यक्तित्व अधिक समय तक स्थिर नहीं रहता। वह कागज के सुमनों की सुगंध है। जब तक इत्र/गंध पड़ा है, तब तक सुगंध है। गंध

पूया-उद्देसादो परपद्धदिं गेज्झंति, अणुकरंति, ते अधुव्वा पहावगा। तस्समयं जीवा रंगेति, सा पहावणा दोसु दिणेसु हि अपहावणारूवं धारंति। चारित्त-दढत्तदो संजम-सोरहत्तादो समत्त-धिज्जत्त-बंभचेर-पवित्तसुरहीदो जा आदपहावणा धम्मपहावणा होदि सा होदि अचला अखंडा सुमेरुव्व। पुणो तं कोवि ण विणासदि, जदि वि कइ हु भूयालो आगमेज्जा। इदि णियजीवं सग - आदरिसत्तादो भविदं किच्चा सपरकल्लाणं पसत्थं कुज्जा।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

के उड़ने पर कोरे कागज हैं। उसी प्रकार जो व्यक्ति स्वयं की ख्याति/पूजा के उद्देश्य से दूसरे की शैली को स्वीकारते हैं, नकल करते हैं, वे अस्थाई प्रभावक हैं। उस समय, तात्कालिक तो लोगों को प्रभावित कर लेता है, परन्तु वह प्रभावना दो दिन में ही अप्रभावना का रूप धारण कर लेती है। चारित्र की दृढ़ता, संयम की सौरभता से, समता, सहनशीलता तथा ब्रह्मचर्य की पवित्र सुरभि से जो आत्म-प्रभावना के साथ धर्म-प्रभावना होती है वह अचल, अखण्ड, सुमेरुवत् होती है। फिर उसे कोई भी समाप्त करने की सामर्थ्य नहीं रखता, चाहे कितने भी भूचाल आते हों। अतः अपने जीवन को स्वादर्शता से भावित करके स्वपर कल्याण को प्रशस्त करना चाहिए।।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

णव्व-वरिसो आदभोगरवणं

हे पण्णप्पा ! समयं गवेस। आगासभवण-विणासम्हि विसेसकालो ण जुंजदि। खणमेत्ते णस्सदि। जिणालयसिहरत्थ-पडायाए डुलणे जं समयं लग्गदि सो दिग्घकालो, उण देहादो देहीए विलीणी-करणे जं समयं लग्गदि तस्साणुसंधाणं अज्जोपाय जीवो ण कुज्जा, कदा चम्मभवणादो हंसप्पा णिगच्छीअ। अहो अच्छेरं ! पडिवरिसं णव्ववरिसुस्सवं कुणदि पुणो वि वरिसो णव्वो ण आगच्छदि। णव्ववरिसे किंचण णवीणत्तं दु आगमेज्जा। किण्णु सो अज्जोपाय ण अणुहवदि। णव्ववारिसे णव्ववत्थं धारसि, णव्ववत्थुभोगं कुणसि किं तुवं? रे मूढ ! जं किंचि अत्थि तुमे सव्वं पुरादणं। णिहिल-इंदियजण्णभोगसामग्गी तुमे पुरादणा, ताओ अणादिकालादो भुंजेसि। कोवि भोग्गं पोग्गल-पदत्तवत्थुं

''आत्मभोग का क्षण है नया वर्ष''

हे प्रज्ञात्मन! समय की खोज कर। आकाश-भवन के विनाश होने में विशेष काल नहीं लगता है। क्षण मात्र में विनाश को प्राप्त हो जाता है। जिनालय के शिखर पर लगे ध्वज के हिलने में जो समय लगता है वह तो दीर्घकाल है, परन्तु देह से देही के निकलने में जो समय लगता है उसकी खोज व्यक्ति आज तक नहीं कर पाए कि कब चर्म-भवन से हंसात्मा निकल गया। अहो! आश्चर्य है कि प्रतिवर्ष नव वर्ष मनाता है, फिर भी वर्ष नया नहीं आता। नये वर्ष में कुछ नयापन भी तो आना चाहिए। परन्तु वह तो आज तक अनुभव हुआ ही नहीं। नये वर्ष में नए वस्त्र धारण किए, नयी वस्तुओं का भोग किया है क्या तूने? अरे मूढ! जो कुछ भी है, सब तेरे लिए पुराना है। जितनी भी इन्द्रियजन्य भोग-सामग्री है, वह सब तेरे लिए

अवसेसं णत्थि, जं तुं सगभोगसामग्गी णवि कुव्वहि। पुणो वि ण तिप्पीअ। तुं विचिंतसु कोवि इंदियस्स णव्वभोग-सामग्गिं भुंजिदूणं तुं णव्व-वरिसुस्सवं करिस्ससि, दु तुज्झ इदं चिंतणं पुण्ण-अण्णाणत्तजुदं। अज्जोपाय कोवि वत्थुं वसुंधराए अवसेसं णत्थि जस्स उवभुंजित्तु तुं णव्ववरिसुस्सवं करसि जं किंचि भुंजेसि, सो सव्वं उच्छिट्ठं। तमेव पुणो-पुणो उवभुंजेसि। ण तुए गिलाणी णेव लज्जा। किंचि विचिंत णिय-किरियाकलावेसु दिट्ठसुदाणुभूद-विसएसु तुं अज्जोपाय सम्मद्दंसण-णाण-चारित्तस्स उवेक्खं कुणसि। अदु जग्ग, रदणत्तयधम्मं पडि कुण मुहं। खलु णव्ववरिसुस्सवं इच्छसि दु अज्जोपाय जस्स वेदणं ण कुणसि तं परमपारिणामिग - टंकुक्किण्ण - णायगसहावरूव -

पुरानी है, अनादिकाल से भोग रहा है। कोई भी भोगनेयोग्य पुद्गल-प्रदत्त वस्तु ऐसी अवशेष नहीं है, जिसे तूने अपने भोग की सामग्री नहीं बनाई हो। फिर भी तृप्त नहीं हो सका। तू चाहे कि किसी भी इन्द्रिय का नव्य भोग-सामग्री को भोगकर तू नया वर्ष मनाएगा, तो यह विचार तेरा पूर्ण अज्ञानता से युक्त ही होगा। कारण यह है कि अब तक ऐसी वस्तु धरा पर बची ही नहीं है जिसका उपभोग कर के तू नये वर्ष की खुशियाँ मना सके। जो कुछ भोगा जा रहा है, वह सब उच्छिष्ट हो चुका है। उसी का पुनः पुनः उपभोग कर रहा है। न तुझे ग्लानि है, न लज्जा। अरे भाई! तनिक विचार कर स्वयं के क्रिया कलापों पर। दृष्ट, श्रुत और अनुभूत विषयों में तूने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को आज तक पीठ दिखाई। अब चेत, रत्नत्रय धर्म की ओर मुख कर। यदि नया वर्ष यथार्थ रूप से मनाना है, तो जिसका वेदन आज तक नहीं किया, उस परम-पारिणामिक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-स्वभावरूप, परमानंद-रूप आत्मघट में उत्पन्न हुआ,

परमाणंदरूव - आदघडे उप्पज्जमाणे परमसमरसीभावजुद-अज्झप्पसुहवेदणं कुण, जं अज्जोपाय ण लहेसि। इंदियभोग-विओगे आदजोग - संजोगो जदा होदि, तदेव णव्वदिणं णव्ववरिसो।।

।।जयदु भगवं महावीरो।।

परम-समरसी-भाव से युक्त अध्यात्म-सुख का वेदन कर, जिसे आज तक तूने प्राप्त नहीं किया। इन्द्रिय-भोगों का वियोग होने पर आत्मयोग का संयोग जिस क्षण होता है, वही क्षण नया दिन और नया वर्ष है।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

गुरु–भक्ति मुक्ति का भी कारण–

गुरुभक्तिः सती मुक्त्यै, क्षुद्रं किं वा न साधयेत्।
त्रिलोकीमूल्यरत्नेन, दुर्लभः किं तुषोत्करः ।।

जिस प्रकार तीन लोक की कीमत वाले अमूल्य रत्न से भूसे का ढेर खरीदना कोई बड़ी बात नहीं है, उसी प्रकार जो सच्ची गुरु-भक्ति परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति करा देती है, उससे अन्य लौकिक कार्यों की सिद्धि हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है।

सग-चिदसरूवं मा भुल्ल

हे पण्णप्पा ! मा भुल्ल णियचिदसरूवं। संसारस्स सयलावस्सग-कज्जाणि अमुक्खाणि। केवलं णियप्पदेवविया णं णियप्पदेवझाणं हि मुक्खकज्जं। अभूदत्थ-णएण पंचपरमेट्ठी चिंतणज्झाण-हेदू, भूदत्थणएण केवलं अखंडधुव-चेयणघण-णाणाणंदसहावी णियप्पदव्वं। सेसाणि पदत्थाणि णेयाणि हेयाणि। उत्तम-उवादेयभूदो णियसुद्धप्पा, तस्सेव लद्धि-उज्जमं कुव्व। सेसा सयलपरसंबंधा दुक्खरूवा एवं दुक्खकारणाणि। जावदु वि संयोगविप्पजोग-संकप्पवियप्पकारणाणि, ताणि सव्वाणि कम्मबंध-पबलपच्चयाणि। जीअ-जीअ किरिया-कलावादो संकप्पवियप्पजम्मणं होदि, तं तं किरियाकम्मादो ऊसरेज्जा।

''स्वचिद्स्वरूप को मत भूल''

हे प्रज्ञात्मन्! स्वचिद् स्वरूप को नहीं भूलना। संसार के कितने भी आवश्यक कार्य हों, वे सब गौण ही हैं। मुख्य कार्य तो एकमात्र स्वात्मदेव को पहिचानना है, उनका ही ध्यान चिंतन करना है। व्यवहार नय से चिंतन ध्यान के हेतु पंचपरमेष्ठी हैं और निश्चय नय से एकमात्र अखण्ड-ध्रुव, चैतन्य-घन, ज्ञानानंद स्वभावी निजात्म-द्रव्य है। शेष पदार्थ ज्ञेय हैं, हेय हैं, परन्तु श्रेष्ठ उपादेयभूत निज-शुद्धात्मा है। उसी की प्राप्ति का पुरुषार्थ कर। बाकी के सभी पर-संबंध दुःखरूप हैं तथा दुःख के कारण हैं। जितने भी संयोगवियोग, मिलना-बिछुड़ना, संकल्प-विकल्प के कारण हैं, वे सब कर्म-बंध के प्रबल-प्रत्यय हैं। जिन-जिन क्रिया-कलापों से संकल्प-विकल्प का जन्म होता, तत्-तत् क्रिया-कर्मों से दूर रहना चाहिए। छोटी सी वय में कुछ बड़ा/श्रेष्ठ कार्य करके जाना

अप्पवए उत्तमकज्जं किच्चा गच्छेज्जा। तुं किं सत्तू किं मित्तं भासदि? खलु ण कोवि सत्तू ण मित्तं। रागद्दोसग्गीए कियत्तो कप्पकालो णिस्सरीअ। इमादो हुदासणादो णियभावरक्खणं कुण। हुव णादा दिट्ठा। सव्वाणि जाण, सव्वाणि पस्स, दु अण्णं सगस्स णियरूवं मा मण्ण। पज्जायजण्णसंबंधा सहिद-भूदा। परमट्ठेण ण कोवि विणेयो णेव गुरू। सड्ढासड्ढेय-संबंधो एव, णेव सहावरूव-गुणगुणीसंबंधो। सहावसंबंधो दु सुद्धणाणदंसणं। तम्हि अभिरम। अण्णादो तुं अवगच्छ। जहेव पंडुरोगिस्स घिद-मिरिच-चागो आवस्सगो तहेव उवेक्खं लोइगजणादो धारेज्जा। अपत्थझाणं णत्थि दु वट्टमाणपज्जायदो विरमाणेज्जा। तहेव विसयकसाय-हेदुभूद-लोइगसंसग्गो वि आददेवादो विरालेज्जा। हे पण्ण! णव्वदिवसे णव्वचिंतणधारं कुण।।

।।जयदु भगवं महावीरो।।

चाहिए। तू किसको अपना शत्रु, किसको मित्र कहता है? यथार्थ में न कोई शत्रु है, न मित्र। वर्ष ही क्या, कल्पकाल व्यतीत हो गए राग-द्वेष की आग में। इस हुताशन से निज भावों की रक्षा कर। ज्ञाता-दृष्टा बनकर रहना सीखो। सबको जानो, सबको देखो, परन्तु किसी को अपना निज स्वरूप मत मानो। जितने पर्यायजन्य संबंध हैं, वे सब स्वार्थभूत हैं। परमार्थ दृष्टि से न कोई गुरु, न चेला। श्रद्धा-श्रद्धेय संबंध है, लेकिन स्वभावरूप गुण-गुणी संबंध नहीं है। स्वभाव-संबंध तो शुद्ध ज्ञान-दर्शन है। उसी में लीन रहो। अन्य/पर से तू विलग हो जा। लौकिकजनों से उसी प्रकार अपथ्य रखना चाहिए जिस प्रकार पाण्डु रोगी के लिए घृत तथा मिर्च का अपथ्य रखना अनिवार्य होता है। यदि अपथ्य का ध्यान नहीं रखा तो वर्तमान पर्याय से पलायन करना पड़ता है। उसी प्रकार विषय-कषाय के हेतुभूत लौकिक सम्पर्क भी आत्मदेव से पलायन/पृथक् करा देता है। हे प्रज्ञ! नूतन दिवस पर नूतन चिंतन की धारा बनाओ।।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

सुदिट्ठी करेदि णाणचारित्त-सम्माणं

हे पण्णप्पा ! जह णिग्गंध-पुप्फं कोवि ण पस्सदि, तहेव सम्मत्त-गुणहीणं मुत्तिवल्लहा ण झूरदि, जइ वि कियत्तं उज्जमं पकुव्व। पढमो उज्जमो चारित्तधारणस्स ण होदव्वो। पढमा चारित्तं पडि णिम्मल-अट्ठा होदव्वा। अट्ठाविहूण-चारित्तवंता णिद्दोस-संजमपालणं ण कुव्वंति णेव अण्णं चारित्तं पडि अट्ठावंता समारंति। जावं ण सगस्स संजमं पडि रुई, तावं सो सम्मत्त-णाणचारित्त-वण्णणं ण करिस्सदि? जो पुण्ण-अट्ठाए संजम-चारित्तगुणसंजुत्तो, तस्स महापुरिसस्स सिरिमुहेण तच्चपरूवणा-अप्पाणुहव-वयणं च सोहेदि। अहो ! सम्मत्तगुणलद्धी अपुव्वाणंद-दसा, जाए महिमाए ण देविंद-णरिंदत्तलाहो, किंदु लोगतिलग-सिद्धत्तलाहो होदि। णाणं खु चारित्तं समीचीणत्तं देदि। णिहिल-

''सम्यक्त्वी करता है ज्ञान-चारित्र का सम्मान''

हे प्रज्ञात्मन्! जैसे निर्गंध पुष्प को कोई नहीं देखता, उसी प्रकार सम्यक्त्व गुणहीन को मुक्ति-वल्लभा नहीं निहारती, चाहे कितना पुरुषार्थ कर लें। प्रथम पुरुषार्थ चारित्र-धारण नहीं होना चाहिए, अपितु सर्वप्रथम चारित्र के प्रति निर्मल आस्था होनी चाहिए। आस्थाविहीन चारित्रवान् न तो निर्दोष संयम का पालन कर पाते हैं, न किसी को चारित्र के प्रति आस्थावान् बना पाते हैं। जब तक स्वयं की संयम के प्रति रुचि नहीं होगी, तब तक वह सम्यक्त्व-चारित्र-ज्ञान की चर्चा नहीं करेगा। तत्त्वचर्चा या आत्मानुभव की बात उसी महापुरुष के श्री-मुख से शोभायमान होती है जो पूर्ण प्रतीति के साथ संयम चारित्र गुणों से मंडित हो। अहो! अपूर्व आनंद की दशा है सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति, जिसकी महिमा से देवेन्द्र-नरेन्द्रत्व की प्राप्ति नहीं, अपितु लोक-तिलक सिद्धत्व की प्राप्ति होती है।

तच्चाणंदो जिणवयणसारो दंसणगुणो। दंसणविहूणो सावगो समणो व संसारमग्गी। सम्मत्तगुणविभूसिदो चारित्तहीणो वि मोक्खमग्गी। जइ वि चारित्तं जगप्पुज्जं सक्खं मोक्खकारणं, दु तदेव जदा होदि सम्मत्तं। चारित्तविहूणसम्मद्दंसणं परंपरा-मोक्खकारणं। जदा वि आदा परमोवलद्धिं सिद्धिं भजिस्सदि, तदा सो सम्मत्तणाणचारित्तलाहो जुगवं हि करिस्सदि। सम्मत्तविहूण-चारित्तवंतो णंतसंसार-भमणं कीरेज्जा। चारित्त-सुण्ण-सुदिट्ठी अद्धपुग्गलपरावट्टणादो अहिगादो भवे ण हिंडदि। अयं सिद्धंतो। सम्मत्तमहिमा गायणमेत्तेण वि ण होदि कोवि सुदिट्ठी। चारित्तवंतं संजदं पस्सिदूण पसीददि। पस्सिदूण संजदं जस्स हिदए पमोदो ण उप्पज्जदि, सो सम्मत्तगुणसुण्णो। भवबंधणविमुत्ति-उवायो रदणत्तयधम्मो, तम्हि अभिरम।

।।जयदु भगवं महावीरो।।

ज्ञान ही चारित्र को समीचीनता प्रदान करता है। सम्पूर्ण तत्त्वों का आनंद, जिनवाणी का सार दर्शन-गुण है। दर्शनविहीन श्रमण व श्रावक दोनों ही संसारमार्गी है। सम्यक्त्व गुण से विभूषित चारित्रहीन भी मोक्षमार्गी है। यद्यपि चारित्र जगत्पूज्य है, मोक्ष का साक्षात् कारण है, पर तभी है जब सम्यक्त्व साथ में है। चारित्र-विहीन सम्यग्दर्शन परंपरा से मोक्ष का कारण है। जब भी आत्मा परमोपलब्धि सिद्धि को प्राप्त होगा, तब वह सम्यक्त्व, ज्ञान व चारित्र की प्राप्ति युगपत् ही करेगा। सम्यक्त्वरहित चारित्रवान् अनंत संसार का भ्रमण कर सकता है, परन्तु चारित्रशून्य सम्यग्दृष्टि अर्ध पुद्गल परावर्तन से ज्यादा भव में नहीं भटक सकता। यह सिद्धांत/नियम है। सम्यक्त्व की महिमा गाने मात्र से भी कोई सम्यग्दृष्टि नहीं हो जाता। चारित्रवान् को देखकर प्रमुदित हो जाता है। संयमी जीव को देखकर प्रमुदित हो जाता है। संयमी जीव को देखकर जिसके हृदय में प्रमोद उत्पन्न न हो सके, वह सम्यक्त्वगुण से शून्य है। भव-बंधन से छूटने का उपाय रत्नत्रय धर्म है, उसी में लीन हो जा।।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

परदोसवादम्हि मोणं

हे पण्णप्पा ! संसारे हिंडंते बहुकालो णिगच्छदि, वुण जीवं भयं ण उप्पज्जदि। पडिदिणं पडिपलं णाणाविसमदाणं वेदणं कुव्वदि। रोच्छदि, पुणो णेत्तंबुणो पुंछित्ता सोचेव किच्चं कुव्वदि। कम्म-बंधादो ण लज्जा णवि भयं। णेव अण्णं अण्णस्स लज्जा। पहु-भत्तिपूयणं पि कुव्वदि, जिणदेसणं पि सोच्छदि, किण्णु णियुत्थाणचरिचं किंचिवि ण कुव्वदि। विस्सुण्णयाण-कज्जे अणुरत्तो। किं कोवि अज्जोपाय विस्सुण्णयणं पुण्णरूवेण कुज्जा ? तुं णो कुणीअ, णियुण्णयणं पुणो किं विस्सुण्णयणं करिस्ससि। अरे मूढ ! तित्थयरा अण्णस्स आलोयणं अवयारं ण किदो, दु आलोयणाणं आलोयणं किदो। कोवि जीवणिंदं णियदेसणाए ण किदो, पुणो णिंदणीयकिच्च-णिंदं किदो। सदपुरिसाणं

''परदोष कहने में रहो मौन''

हे प्रज्ञात्मन्! संसार में भ्रमण करते हुए बहुकाल व्यतीत हो गया, परन्तु इस जीव को भय उत्पन्न नहीं हुआ। प्रतिदिन व प्रतिपल नाना-विषमताओं को वेदन कर रहा है। रो लेता है, परन्तु आँखों से आँसू पोंछकर पुनः वही कृत्य कर रहा है। न लज्जा है, न डर है कर्मबंध से। न किसी को किसी की लाज रही। प्रभु की भक्ति/पूजन भी कर लेता है, जिनवाणी भी सुनलेता है, परन्तु निज के उत्थान की बात बिल्कुल नहीं कर पा रहा है। विश्व-सुधार के कार्य में लगा है। क्या कोई आज तक विश्व को पूर्णरूपेण सुधार पाया है? स्वसुधार नहीं कर पा रहा, फिर तू विश्व को क्या सुधार पाएगा? अरे मूढ! तीर्थंकर भगवान् ने किसी की आलोचना नहीं की, किसी की बुराइयों का प्रचार नहीं किया, किन्तु बुराइयों की बुराई की है। किसी व्यक्ति की निंदा निज देशना में नहीं की, अपितु निन्दनीय कृत्यों की निंदा की है। सत् पुरुषों को निंदनीय कृत्यों से दूर रहने का उपदेश दिया है। धर्मात्माओं की आलोचना नहीं की, भूल-सुधार की बात की है, प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान का वर्णन किया।

णिंदणीयकिच्चादो विलगत्तस्स उवदिसदे। धम्मप्पाणं आलोयणं ण किदो, भमुण्णयण-वयणं उच्चदि। पायच्छित्त - पडिकमण - पच्चक्खाण - परूवणं च करेदि। छदुमत्थजीवेसु होंति दोसा, तद्दोस-सोहणकज्जं। ते सयं करंति णेव अण्णे। अणुव्वदिं गुत्तपाव-पयडत्तस्स णिसेहो। जो परदोसवादम्हि वाचालो सो ण अणुव्वदी णेव महव्वदी। अहो ! मूढजीवो तुं समाहिभत्तीए 'दोषवादे च मौनम्' सुत्तं ण पढेज्जा। तम्हि सपर-हिदं णिहिदं। धम्मरक्खा-आसयम्हि सम्मत्तंग- विणासो सपरसड्ढाण-विणासो व्व, जो आगमस्स पुण्ण-विवरीदो। धम्मप्पणा विणा धम्मस्स-उज्जोयणं असंभवो। धम्मप्पाण-दोसा उब्भावित्तु कोवि धम्मरक्खणं ण कुणदि। तुं रक्खगो दु परियंचित्तु ठिदिकरणंगपालणं कुण, णिय-विण्णत्तपरिचयं दिंत, कोवि संजदं पडि सड्ढाणं मा समप्प।।

।।जयदु भगवं महावीरो।।

छद्मस्थ जीव में दोष हो सकते हैं, उन दोषों के शोधन का कार्य स्वयं के ऊपर है, पर के ऊपर नहीं। गुप्त से गुप्त पापों को प्रकट करने का एक अणुव्रती को निषेध है। वह अणुव्रती या महाव्रती कहलाने का पात्र नहीं है जो पर के दोष कहने में वाचाल है। लगता है कि समाधि-भक्ति का वह सूत्र नहीं पढ़ा उस भोले प्राणी ने कि-''पर के दोष कहने में मौन रहना ही श्रेयस्कर है''। उसी में स्वपर हित निहित है। धर्म-रक्षा के नाम पर सम्यक्त्व के अंगों का नाश कर देना तो स्व-पर की श्रद्ध को तिलांजलि देना है, जो आगम के पूर्ण विपरीत है। बिना धर्मात्माओं के धर्म का प्रचार-प्रसार संभव नहीं है। धर्मात्माओं के दोषों को प्रकट करके कोई भी धर्म-रक्षा नहीं कर सकता। यदि रक्षक हैं आप तो पास जाकर स्थितिकरण अंग का पालन करें, निज की विज्ञता का परिचय दें, परन्तु किसी भी संयमी के प्रति श्रद्धान/आस्था समाप्त न करें।।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

समयसार-लाहेवायो तच्चदिट्ठी

हे पण्णप्पा ! अखंडपिंड-चेयणणाणघण-आददव्वादो पुहं परदेहादिदव्वाणि णत्थि आदसरूवो। परसंजोगपहावादो जीवो णाणवियप्प-कल्लोले रज्जदि। लोए णिहिलसंबंधा दुक्खमूलं। जीवो मण्णदि देहसंबंधा सगस्स। तेसिं विओगे रोच्छदि, संजोगे हसदि। भूदत्थं बुज्झदि दु ण हसदि णेव रोच्छदि। अहो ! मोहलीलाए अच्चंतभिण्ण - संबंधीरागे जीवो परमेट्ठि - अणुरागं तज्जदि। पंचपरमेट्ठिं पडि भत्ति-वच्छल्लाणुरागा परंपराए मोक्खकारणं। कुलादिं पडि रागो णियमेण बंधकारणं। बंधणादो भयं दु पसण्णत्तेण देस-णयर-गह-कुलादीसु ममत्त-परिचागं कुण, अण्णहा जेण कारणेण तुं जिणलिंगं गेण्हेसि तं तुज्झ भवचक्कं णवि

''समयसार की प्राप्ति का उपाय है तत्त्वदृष्टि''

हे प्रज्ञात्मन्! अखण्ड-पिण्ड, चैतन्य-ज्ञानघन आत्मद्रव्य से भिन्न पर देहादि जो द्रव्य हैं, वे सब आत्मस्वरूप नहीं हैं। पर-संयोग के प्रभाव से जीव नाना विकल्पों की कल्लोलों(तरंगों) में लगा हुआ हैं। जितने भी लोक के संबंध हैं, वे सभी दुःख के मूल हैं। शरीर के संबंधों को इस जीव ने अपना मान लिया है। उनके वियोग में बिलखता है, संयोग में हँसता है। यदि सत्यता को समझ लेता, तो न हँसता, न बिलखता। अहो! मोह की लीला, जो अत्यन्त पृथक् संबंधी हैं उनके राग में यह जीव परमेष्ठी के अनुराग को छोड़ बैठता है। पंचपरमेष्ठियों के प्रति वात्सल्य, भक्ति, अनुराग तो परंपरा से मुक्ति का हेतु है, परन्तु कुटुम्बादि के प्रति किया गया राग नियम से बंध का कारण है। बंधन से यदि भय है, तो देश, नगर, गृह-कुटुम्बादि के ममत्व का परित्याग प्रसन्नतापूर्वक कर दो, अन्यथा जिसके पीछे तूने जिनमुद्रा को स्वीकार किया है, वह तेरा भव चक्र समाप्त

झूरेस्ससि। गहत्थावत्थाए रागद्दोस- अवसाणो असंभवो, तम्हा दियंबर-वेसं धारेसि। जदि इमं अवत्थं पावित्तु वि रायणीदिं कूडणीदिं च करिस्ससि दु ण कारणसमयसारं, णेव कज्जसमयसारं भजिस्ससि। अणगाराणं गह - णयर - पुरजण - परिजणादो भिण्णत्तभावो उत्तमो। कुदोचिद णयरे वि गच्छेज्जा दु सामण्ण-णयरोव्व वित्तिं कुज्जा, अण्णहा रागदोस-कद्दमादो णियरक्खाणं-णवि कुव्वेज्जा। परिणाममोडा-मेढविसाणादो अहिग-वक्कादो। अहवा बंसजडादो वि अहिगवक्कादो। साहगवग्गं साहुपुरिसा वट्टमाणे विसेसरूवेण णिए पडिजग्गेज्जा, तदेव समणसक्किदिं पडि जीवसड्ढाणं अविचलं कीरेज्जा। तच्चदिट्ठिं गुंफ, एवंचेव समयसारलाहोवायो।।

।।जयदु भगवं महावीरो।।

होने वाला नहीं है। गृहस्थावस्था में राग-द्वेष की समाप्ति संभव नहीं है, इसलिए दिगंबर वेष को धारण किया है। यदि इस अवस्था को प्राप्त करके भी राजनीति/कूटनीति करते रहे तो ध्यान रखना, न तो कारण-समयसार को प्राप्त होगा, न ही कार्य-समयसार को। अनगारों के लिए गृह, नगर, पुरजन, परिजनों से दूर रहना ही श्रेष्ठ है। कदाचित् नगर में जाना भी पड़े तो सामान्य नगरों-जैसी वृत्ति रखें, अन्यथा इस राग-द्वेष के कर्दम से अपनी रक्षा नहीं कर पाओगे। ध्यान रखना, परिणामों के मोड़े मेढ़ के सींगों से भी ज्यादा टेड़े-मेड़े हैं। बल्कि यह कहना चाहिए कि बाँस की जड़ से भी अधिक घुमावदार हैं। अतः साधक वर्ग को साधु पुरुषों को वर्तमान में विशेष रूप से अपने में जाग्रत होने की आवश्यकता है, तभी श्रमण-संस्कृति के प्रति जीवों की आस्था को स्थिर रखा जा सकता है। तत्त्वदृष्टि बनाकर चलो, यही समयसार की प्राप्ति का उपाय है।।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

जिणदंसणादु कुण णियदंसणं

हे पण्णप्पा ! णियपहु-दंसणत्थं जिणदंसणं आवस्सगं। विणा जिणदंसणेण असंभवो णियदंसणं। चित्तकारो जदा चित्तं गुंफदि। किण्णु पुव्विं चित्तणाणं कुव्वदि अहवा पडिकिदीए पुव्विं चित्तं पस्सदि। चित्तवंत-णाणेण विणा चित्तकप्पणा असंभवो। तहेव अरहंत-सरूवलाहो तं सरूववेदणं तदेव संभवो जदा अरहंतसरूवणाणं होहिदि, एवं तेसिं तं रूवाकार-दंसणं कुणीअ। तदेव अरहंतसहाव-परिकप्पणा सगचित्ते कुज्जा। जावं ण भिण्णं दोण्हं पदत्थणाणं, तावं संसयो वि ण होदि। जहा जं जीवं ठाणु-पुरिसाणं णाणं, तमेव दिट्ठिदोसेण अप्पपगासादि-णिमित्तेण य ठाणुम्हि पुरिससंसयो होज्जा। जो एगं पि ण जाणदि, तं को संसयो? तहेव एत्थ जाणेज्जा। जदा संसयणाणस्स भिण्णं दोण्हं

''जिन दर्शन से कर निज-दर्शन''

हे प्रज्ञात्मन्! निजप्रभु के दर्शन के लिए जिनदर्शन अनिवार्य है। बिना जिनदर्शन के निजदर्शन संभव नहीं है। एक चित्रकार जब चित्र बनाता है, इसके पूर्व चित्र के बारे में ज्ञान करता है अथवा प्रतिकृति के पूर्व चित्र को निहारता है। बिना चित्रवान् के ज्ञान के चित्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसी प्रकार अरहंत के स्वरूप का ज्ञान होगा। साथ ही उनका तत्-रूप आकार का दर्शन किया होगा। तभी अरहंत स्वभाव की परिकल्पना अपने अंदर कर सकता है। जब तक भिन्न दो पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, तब तक संशय भी नहीं होता, जैसे कि जिस व्यक्ति को स्थाणु और पुरुष दोनों का ज्ञान है, उसे ही दृष्टि दोष से व अल्प प्रकाशादि निमित्त से स्थाणु में पुरुष का संश्य होगा। जिसने एक को भी नहीं जाना, उसे क्या संशय होगा? उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए। संशय ज्ञान के लिए जब भिन्न दो पदार्थों का ज्ञान होना आवश्यक है,

पदत्थणाणं आवस्सगं, पुणो भूदत्थ - णाणस्स पदत्थसहावणाणं खलु आवस्सगं। विणा अरहंत-सरूवणाणेण कत्थ जाणंति अरहंतसहावं? सरूवणाणत्थं वे-सुंदर-आलंबणं गंथं जिणबिंबं च। आगमं अज्झिदूणं णाणं कुज्जा अहवा तदागारजिणबिंबं चित्तं य पस्सिदूण णाणं कुज्जा। बिंबं चित्तं अणक्खरगंथं। गंथाणं सहस्सपुट्ठा पढित्तु जं णाणं होदि, तं णाणं चित्तं बिंबं पस्सिदूणं होदि। दस्सग-अंतसे जिह आगारभाव- भंगिमा होदि, तहेव चिंतणं होदि। तं रूव-आचरणं सिज्झदि। तम्हा साहगवग्गं खु दज्छेज्जा, जेण साहुभाववड्ढी हुज्जा। असक्किद - चित्तावलोयण - सद्दसवणो कुसीलो। वीदरागछविं पस्सिदूणं वीदराग-भावुब्भवो होदि। अज्ज पबलपुण्णजोगो आसी, कुंडलगिरीए विज्जदे आदीसर-

फिर यथार्थ ज्ञान के लिए तो पदार्थों के स्वभाव का ज्ञान होना अनिवार्य ही है। बिना अरहंत-स्वरूप के ज्ञान के अरहंत-स्वभाव को कैसे जान सकते हैं? स्वरूप-ज्ञान के लिए दो सुंदर आलंबन हैं। एक शास्त्र (जिनवाणी) और दूसरा जिनबिंब। आगम (शास्त्र) का अध्ययन करके ज्ञान कर लेना एवं तदाकार जिन-प्रतिमा जी को देखकर अथवा चित्र को देखकर। प्रतिमा व चित्र बिना-अक्षरों का ग्रंथ होता है। ग्रंथों के सहस्त्र पृष्ठों को पढ़कर जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान एक चित्र या प्रतिमा को देखकर हो जाता है। जैसे आकार की भावभंगिमा होती है, दर्शक के अंदर वैसा ही चित्रण होता है। तत् रूप आचरण बनने लगता है। इसलिए साधक वर्ग को ही देखना चाहिए, जिससे साधु-परिणामों की वृद्धि होती रहे। अश्लील चित्रादि देखना व शब्द सुनना भी कुशील है। वीतराग छवि को देखकर वीतराग भावों का उद्भव होता है। आज प्रबल पुण्य का योग था जो कुण्डलगिरी में विराजे आदीश्वर भगवंत के वीतराग बिम्ब के दर्शन,

भगवंत-वीदरागबिंबस्स दंसणं फासणं च भजेज्जा। अहो ! धण्णा वीदरागदसा, जेसिं अवलोगणेण चित्ते वीदरागाणुहवो होदि। इमा भावणा वयं पि पुव्ववीदरागत्तं भजेहिमो।।

।।जयदु भगवं महावीरो।।

स्पर्शन हुए। अहो! धन्य है वह वीतराग दशा, जिनके निहारने से हृदय में वीतरागता का अनुभव हुआ। यही भावना है कि हम भी पूर्ण वीतरागता को प्राप्त होवें।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

x#ægk l fo|k dk uk'k&

x#ægk x.k% dk ok] dr?ukuk u u';frA
fo|kfi fo|nkHkk% L;kneyL; dr% fLFkfr%AA

ft l idkj fcuk tM do{k dh fLFkfr lEHko ugh g(ml hi dkj x# l ægk djuoky vkj x# dk mi dkj u ekuuoky d lHkh x.k u"Vgk tkr gA mudh rk fo|k Hkh fc tyh dh rjg {k.kLFkk;h gk tkrh g(D;kfd ;g ije lR; gfd fcuk tMoky inkFk dh fLFkfr ugh jgrhA

णियतित्थ-पत्तीए तित्थवंदणा

हे पण्णप्पा ! देहे विज्जदे णियदेवं दच्छ। बहूवारं तुं तित्थमंदिरेसु गदो। तत्थ वि तुं अहंभाव-पोसणावलोगणं णिय-तित्थलाहस्स तित्थवंदणा। पुव्विं विसालसमणसंघा परिणाम-विसुद्धिहेदू अदिसयखेत्त - सिद्धखेत्तवंदणाए गदा। तित्थविगासत्थं धम्मप्पाण-सावगा उवदिसीअ, णं सग-णामपत्तं अंकिदत्थं कोवि पुव्वायरिया ण उवदिसीअ, णेव चिट्ठितु अत्थसंयोजणं किदा। अहो अच्छेरं ! आदतित्थम्हि गममाणा तित्था उसहायलरूवं देंति। अमुगतित्थे मे णाम होहिम। किं कोवि णाम सासगा आसी संति होस्संति व? तित्था हि ण वसेस्संति, दु णाम कत्थ वसेस्सदि। हे अप्पा ! पुण्णवग्गणालाहत्थं कम्मक्खयत्थं दु

''निजतीर्थ की प्राप्ति के लिए होती है तीर्थवंदना''

हे प्रज्ञात्मन्! तन में विराजे निजात्म-देव पर दृष्टिपात कर। बहुत बार गया तू तीर्थों, मंदिरों में। वहाँ भी तूने अहं भाव का पोषण ही देखा। तीर्थ-वंदना निजतीर्थ की प्राप्ति के लिए की जाती है। पूर्व में विशाल यतिसंघ परिणामों की विशुद्धि हेतु अतिशय क्षेत्र, सिद्ध क्षेत्रों की वंदना करने जाया करते थे। तीर्थ-विकास के लिए धर्मात्मा-श्रावकों को उपदेश भी देते थे, परन्तु अपने नाम का पत्र लिखवाने हेतु किन्हीं पूर्वाचार्यों ने उपदेश नहीं दिया, न बैठकर अर्थ का संयोजन किया। आश्चर्य है! आत्मतीर्थ में जाने वाले तीर्थों को वृषभाचल का रूप दे रहे हैं। अमुक तीर्थ पर मेरा ही नाम रहेगा। क्या किसी के नाम सनातन/शाश्वत रहे, हैं या रहेंगे? तीर्थ ही नहीं बचेंगे, तो नाम कहाँ बचने वाला है। हे आत्मन्! तीर्थ-वंदना करना पुण्य वर्गणाओं की प्राप्ति हेतु और कर्मक्षयार्थ, परन्तु अहं के लिए नहीं। अहो, क्या विषमता है पंचमकाल की! आँखों को देखने

कुण तित्थवंदणं, ण दु अहंकारत्थं। अहो पंचमयालस्स विसमदा ! पच्चक्खे दच्छंति जदि कोवि एगसमण-णिद्देसणे तित्थुद्धरो होदि एवं णव्वतित्थठावणा होदि दु अवरसमणा वंदणा वि ण रुच्चंति। का विडंबणा ! रागद्दोस-हाणिठाणे गुणिदकमवड्ढी दिस्सदे। किं पुण्णोदयो णिग्गंथ-भगवंतस्स। चिंता-विसयो तदा होदि जदा आदचिंतग-णिग्गंथवेसं पावित्तु ससमयं खाएदूणं, अण्ण-णिग्गंथालोयणाए रज्जित्तु णियवंचणं कुव्वंति। मुत्तिवल्लहाकंता संसारवहु-करं गेण्हंति। साहगो ससमयस्स णिम्मलोवओगं किच्चा अणेगगंथा अज्झिदूण णाणी साहू होदूणं णमोत्थुसासणं जयसीलं कुव्वदि। थोवसमय-सज्झायं बहुणाणं मण्णित्तु बहिजसे पडित्तु विसुद्धत्तघादस्स समारंभो जेट्ठयम-अण्णाणत्तं।

को मिल रहा है कि यदि किसी एक साधु के निर्देशन में तीर्थोद्धार चल रहा हो व नवीन तीर्थ की स्थापना की गई हो, तो दूसरा वंदन करना भी पसंद नहीं करता। क्या बिडम्बना है! रागद्वेष की हानि के स्थान गुणित-क्रम से वृद्धि देखी जा रही है। एक सामान्य श्रावक वर्ग का दिनरात तो धर्म-ध्यान के लिए होता है। क्या पुण्योदय है निर्ग्रंथ भगवंतों का! परन्तु चिंता का विषय तब बनता है जब आत्मचिंतक निर्ग्रंथ-वेष को प्राप्त करके भी स्वसमय को खो कर, अन्य निर्ग्रंथों की आलोचना में लीन होकर निज की वंचना कर रहे हो। मुक्ति-वल्लभा के कान्त संसारवधु के कर को पकड़ रहे हैं। एक साधक के पास जो समय है वह उसका निर्मल उपयोग करे तो कितने ग्रंथों का स्वाध्याय करके विद्वान साधु के रूप में आकर नमोस्तु शासन को जयवंत कर सकता है। सीमित शास्त्र-स्वाध्याय के बाद अति ज्ञान मानकर बाह्य ख्याति में पड़कर विशुद्धता का घात करना प्रारंभ कर लेना सबसे बड़ी अज्ञानता है।

हे आद ! झाणज्झयणं खु तुज्झ जीवणं। जिणवयणाणंदं पावित्तु आदाणंदे अभिरम।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

हे आत्मन्! ध्यान और अध्ययन ही तेरा जीवन है। जिनवाणी के आनंद का पान करके आत्मानंद में मग्न हो जा।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

सज्जन पुरुष सदा अविकारी–

न हि विक्रियते चेतः सतां तद्धेतुसन्निधौ।
किं गोष्पदजलक्षोभी क्षोभयेज्जलधेर्जलम्।।

जैसे गाय के खुरप्रमाण जल को तरंगित एवं मैला करनेवाला छोटा-सा मेंढक समुद्र के जल को तरंगित एवं मैला नहीं कर सकता; वैसे ही विकार के निमित्त उपस्थित होने पर भी वे निमित्त सज्जन/सम्यग्दृष्टि के चित्त को क्षोभित करने/विकारी बनाने में समर्थ नहीं हैं।

आदुत्थाण-सोवाणं सच्चं

हे पण्णप्पा ! आयरिएहिं समणसक्किदीए संरक्खणे संवड्ढणे णिय-साहणाए अणग्घसमयस्स उवओगं किच्चा जेण्हदंसणं विस्सदंसणेसुं सिहामणिरूवं दिज्जा। महूरवाणीए कडु-आलोयणं कुज्जा, पुणो अण्णं अवणदं ण कुव्वदि, सच्चुग्घाडणं कुव्वदि। वत्तं असच्चालोयणं णवि कुज्जा, दु सच्चं पगासो आवस्सगो। सच्च-पगासाभावे असच्च-अमावस्साए तिमिरं हि दिवसपयासो मण्णिस्सदि। जीवा आदिच्चं कप्पिदं बुल्लिस्संति सच्चं सच्चं होदि, पुणो वि सच्चं वदेज्जा। अहो अच्छेरं ! किं कारणं असच्चत्ते इयं बलो किमु ? सच्चं इयं णिब्बलो किमु ? सच्च - पगासणत्थं विवेगणाणं संजमपालणं आवस्सगं। जीवो असंजमकिच्चदो सच्चं सिद्धं ण

''सत्य आत्म-विकास का सोपान है''

हे प्रज्ञात्मन्! आचार्य भगवंतों ने श्रमण-संस्कृति के संरक्षण संवर्धन में अपनी साधना के अमूल्य क्षणों का उपयोग करके जैनदर्शन को विश्व दर्शनों में शिखामणि का रूप दिया। मधुर वाणी में कटु आलोचना भी की है, परन्तु किसी को नीचा नहीं दिखाया, सत्य का उद्घाटन किया है। यथार्थ यही है कि वक्ता को असत्य की आलोचना करने की विशेष आवश्यकता तो नहीं होती, परन्तु सत्य का प्रकाशन करना अनिवार्य है। यदि सत्य का प्रकाशन नहीं किया, तो असत्य की अमावस्या के अंधकार को ही दिन का प्रकाश मानना प्रारम्भ हो जाएगा। लोग सूर्य को झूठा कहना प्रारंभ कर देंगे। सत्य, सत्य ही होता है, फिर भी सत्य का कथन करना होगा। अहो! आश्चर्य है कि असत्यता पर इतना जोर क्यों? सत्य इतना कमजोर क्यों? सत्य के प्रकाशन में विवेक, ज्ञान, संयम का पालन अनिवार्य है। असंयम कृत्य से व्यक्ति सत्य को सिद्ध नहीं

कुव्वदि। आदुत्थाण-सोवाणं सच्चं। पस्स जीवस्स मूढत्तं जाए पउत्तीए ण कल्लाणं संभवो णेव कोवि कल्लाणं लहदि, पुणो वि अणग्घखणा परचिंताए विणासदि। णिय-करणचरण-अवलोयणेणं विणा परचरणं पस्सिदूणं कम्मासव-बंधं किच्चा भवसंताणं वुड्ढदि। रे मूढ ! जग्ग। कियत्तो उण्णयणवादी जादो, दु परोवादाण-खवोवसमं ण परिअट्टीअ। जदा वि परणिमित्तं कज्जं, तदा उवादाणजोग्गत्तं खलु होहिदि। उवादाण-जोग्गत्ताभावे बहिणिमित्त-उज्जमं च कज्जयारी ण होज्जा। भो पण्ण ! कुण णियप्पदोसदमणं, कुण आदरमणं।।

।।जयदु भगवं महावीरो।।

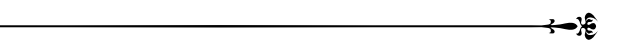

कर सकता। सत्य आत्मविकास का सोपान है। जीव कितना मोही/मूढ़ बनता चला जा रहा है। जिस प्रवृत्ति से न कल्याण संभव है, न किसी ने कल्याण को प्राप्त किया है, फिर भी अनर्ध क्षणों को पर की चिंता में नष्ट करने में लगा है। निज करण-चरण देखे बिना पर-चरण पर दृष्टिपात करके कर्मों का आस्रव-बंध कर भव-संतति को बढ़ा रहा है। रे भोले प्राणी! चेत। कितने सुधारवादी होके चले गए, परन्तु पर के उपादान व क्षयोपशम को नहीं बदल पाए। जब भी पर का निमित्त-कार्य करेगा, तब उपादान की योग्यता का होना अनिवार्य होगा। उपादान की योग्यता के अभाव में बाह्य निमित्त व पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं होंगे। अतः भो प्रज्ञ! स्वात्म दोषों का शमन कर, आत्म-रमण कर।।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

उज्जमहीणो ण होदि वीदरागी

हे पण्णप्पा ! णिहिल-बहि-आचरणुद्देसो कसायोवसम-भावस्स लद्धी, इदं णाणं दव्वसंजमस्स अज्झयणादो होदि। आगमे किमु उत्तो मा कुण अमुगकिरियं, अमुगवत्थुसेवणं च। मूढो इदं किरियाकंड-मेत्तं मण्णंति, णं एसो णत्थि। बुद्धीए जो जं वत्थुसेवणं कुव्वदि, सो रागभावेण विणा ण कुव्वदि। कोवि तिव्व-रागी, कोवि मंदरागी एवं कोवि मज्झमरागी। जावं ण भजिस्सदि वीदमोहगुणठाणसण्णं तावं होहिदि रागो तिव्वरागे मोक्खमग्गो व लोयदि। मंदरागोदए जीवो संजममग्गं घित्तूणं वीदरागत्तस्स सम्मं उज्जमं करेदि। उज्जमहीणो कदावि ण होहिदि वीदरागी। जावं वीदरागवयणाणुसारेण संजमाचरण-पालणं णो कारेस्संति

''पुरुषार्थहीन नहीं बनता वीतरागी''

हे प्रज्ञात्मन्! द्रव्य-संयम का अध्ययन करने से ज्ञान होता है कि सम्पूर्ण बाह्याचरण का उद्देश्य कषायोपशम भाव की प्राप्ति। ये सब वर्णन आगम में क्यों किया गया है कि अमुक क्रिया मत करो, अमुक वस्तु का सेवन मत करो? अज्ञ जीव इसको मात्र क्रियाकाण्ड मान बैठे हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। जो जिस वस्तु का सेवन कर रहा है, बुद्धिपूर्वक, वह बिना राग-परिणति के नहीं कर रहा। यह हो सकता है कि किसी का राग तीव्र है, किसी का राग मंद व किसी का राग मध्यम। लेकिन जब तक वीतमोह-गुणस्थान-संज्ञा को प्राप्त नहीं होगा, तब तक राग तो रहेगा। अंतर इतना है कि तीव्र राग में मोक्षमार्ग नहीं दिखता। मंद रागोदय में जीव संयम-मार्ग को स्वीकार करके वीतरागता का सम्यक् पुरुषार्थ करता है। पुरुषार्थहीन कभी भी वीतरागी नहीं बन सकेगा। भेदविज्ञान या आत्मज्ञान की कोरी चर्चाएँ आत्मज्ञ/वीतरागी नहीं बना सकतीं, जब

तावं भेदवियाणास्स आदणाणस्स चरिचाओ मेत्तं वीदरागी अप्पण्हू ण साहिस्संति। एसो जिणोवएसो। संज़्माचरणस्स अदि-सुंदरो पबंधो। गहे कुले एरिसं णिमित्तं पडिक्खणं विज्जंति, जत्तो जीवस्स उवसमभावहाणी होदि। परावेक्खाए सबंधुणा किंचि बविज्जदि दु कसायो झत्ति उप्पज्जदि। तम्हा साहगस्स जिणदेव-आएसो गहवासं तहा गहणयरं तज्जेज्जा। हे साहग ! चाएण सह तव्विसयग-चरिचाओ वि मा कुण, तादो संबंधो वि मा धार, सामण्ण-सावयो व्व ववहारं कुण। खलु जे साहगा गहचागोवरंता वि तादो संबंधो धारंति, तेसिं हीणचरिया मोहीजीवं पि सुहं ण संलक्खदि। एसो साहगो गहादो दु णिस्सरदि, दु तस्स चित्तादु गहं ण णिस्सरदि। तिव्वरागीजणा कलंकंति णमोत्थुसासणं। मुणिमुद्दा तित्थेसमुद्दा तं गहणस्स पुव्विं भोगकसाय-रागभावादो

तक वीतराग-वाणी के अनुसार संयमाचरण का पालन नहीं करेंगे। ऐसा जिनदेव का उपदेश है। कितनी सुंदर व्यवस्था है जिनाचरण की। गृह/कुटुम्ब में ऐसे निमित्त प्रतिक्षण उपस्थित रहते हैं, जिनके माध्यम से जीव के उपशम भावों की हानि होती है। स्वबन्धु के द्वारा कुछ कहा जाए तो कषाय शीघ्र उत्पन्न हो जाती है पर की अपेक्षा। इसलिए साधक के लिए जिनदेव ने आदेशित किया है कि गृहवास का ही, गृहनगर का भी परित्याग करना चाहिए। हे साधक! त्याग के साथ-साथ तत् विषयक चर्चा-वार्ताएँ भी नहीं करो, उनसे संबंध भी नहीं रखे, सामान्य श्रावकवत् व्यवहार रखो। यथार्थ में जो साधक गृह-त्याग को उपरांत भी उससे संबंध रखते हैं, उनकी हीन-चर्चा मोह-परिणति रखने वाले को भी शुभ प्रतीत नहीं होती। ऐसे साधक के अंदर से घर नहीं निकला, जबकि वह घर से तो निकल गया। तीव्र रागी-जन नमोस्तु-शासन को कलंकित करते हैं। मुनि-मुद्रा तीर्थेश द्वारा स्वीकार की गई मुद्रा है। उसको स्वीकार करने के पूर्व भोग, कषाय, राग-भाव से पूर्ण स्वस्थ होने की

आरोग्गादो हुज्जा। वेसं गहणोवरंतं मूलगुणेसु तादु किरियादु पालण-चाग-कढणं, जेसिं पालणेण भावा सुहं हवंतु। चागो वि तस्सेव कारिज्जदि, जेण रागाभावो। भो अप्पा ! उवसमभाव-वुड्ढी आदसंजगो। जदि सकल्लाणं कंखासे दु मा कुण उवसमभावाभावो।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

आवश्यकता है। वेष स्वीकार करने के उपरांत 28 मूलगुणों में उन्हीं क्रियाओं के पालन व त्याग का वर्णन किया है, जिनके पालन से परिणाम शुभ रहें। त्याग भी उन्हीं का कराया जाता है, जिससे राग का अभाव हो। भो आत्मन्! अतः उपशम परिणामों की वृद्धि ही आत्म-संयम है। यदि स्वकल्याण का इच्छुक है तो उपशम भाव का अभाव मत कर।।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

मोक्ष-प्राप्ति का उपाय-

तदपि स्वपरज्ञाने, याथात्म्यकचिमात्रके।
परित्यागे च पूर्णे स्यात्परमं पदमात्मनः।।

आत्मा का वह परमपद मोक्ष आत्मा की यथार्थ रुचिरूप सम्यग्दर्शन, भेदविज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और आत्मरमणतारूप सम्यक्चारित्र के परिपूर्ण होने पर प्राप्त होता है।

सव्वे जीवा भावि-परमप्पा

हे पण्णप्पा ! जीवे पत्तेगदिणं एगरूवं ण हुंति, जोगिस्स समदाए कोवि भिण्णत्तं ण होदि। सो पडिपलं सपरिणामा संरक्खदि। खणं पि समणत्तादु ण अवगच्छदि। आदा अविणासी। कोवि आदविणासं ण कुव्वदि। ताव-सीद-सुहदुक्खाणि पज्जायजण्णाणि। आदा टंकुक्किण्ण-जाणगो अखंडधुवो, चेदणपिंड-णाणामिदभोत्ता च। णिम्मल-सम्मत्तगुणधारी णिस्संको होदूणं चरणं करेदि। सो णिब्भयो होदि। णिस्संको होदि णिब्भीगो। तं कोवि भयं णत्थि। जस्स हिदए संका अहवा सदोस-चारित्तवंतस्स होदि भयं। णिद्दोस-संजदो मिगेंदो व्व विहरदि। सुदिट्ठी सव्वदा सव्वत्थ इहपरलोगादि-सुहाकंखा - रहिदो, णिक्कामसाहणाए संलग्गेदि साहगस्स

''सभी प्राणी भावी परमात्मा''

हे प्रज्ञात्मन्! जीवन में प्रत्येक दिन समान नहीं हुआ करते, परन्तु योगी की समता में कोई अंतर नहीं आता। वह प्रतिक्षण स्वपरिणामों को सम्हालता रहता है। एक क्षण भी साम्य से स्व को दूर नहीं रखता है। आत्मा का कभी विनाश नहीं है। आत्मद्रव्य का कोई कुछ कर नहीं सकता। सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख पर्यायजन्य हैं। आत्मद्रव्य तो टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-स्वभावी है। अखण्ड-ध्रुव, चैतन्य-पिण्डज्ञानामृत का भोक्ता है। निर्मल सम्यक्त्व-गुणधारी निःशंक होकर चरण करता है। इस विषय में किसी प्रकार की शंका नहीं करता। निःशंक व्यक्ति निर्भीक हुआ करता है। उसे किसी भी प्रकार का भय नहीं होता। यथार्थता है कि भय उसे होता है जिसके हृदय में शंका हो अथवा चारित्र में किसी भी प्रकार की कमी हो। निर्दोष संयमी सिंहवत् विचरण करता है। सम्यक्त्वी जीव सर्वदा, सर्वत्र इह और परलोकादि सुखों की वांछा से मुक्त होता है, निष्काम-साधना में लीन रहता है। आकांक्षा तो साधक के लिए काल-कूट-विष है, जिसके माध्यम से सत्य-साधक के प्राण शीघ्र चले

कालकूडविसो आकंखा जेणं झत्ति सम्मं-साहगपाणा गलंति। कामणा एयग्गत्त-विणासं कारदि, साहगचित्ते अथिरत्तं विआयदि, थिरमाणसरोवरे तरंगा जणायदि। मुमुक्खुं आकंखा सत्तु व्व संलक्खोदि। मायाधम्मजणणी आकंखा। आदहिदाकंखिं कामणा-कमाणं मुंचेज्जा। एवं णियदोसादु अवसादं करंतं, ससंबंधिं सयलजीवा सम्मं साहगधम्मप्पाणो दुगंच्छाए ण पस्सेज्जा। जदा हिदए घिणा उप्पज्जेदि तदा अंतसादु धम्मो गच्छदि। घिणा जीवस्स चित्तं धम्मस्स सत्तू गुंफदि, अणुरागवच्छल्लत्तं च खावदि। भो पण्ण ! कोवि जीवादु गिलाणिंमा कुण, सव्वे जीवा भावि-परमप्पा।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

जाते हैं। कामना एकाग्रता का विनाश करा देती है, साधक के चित्त में चंचलता को जन्म देती है, स्थिर मानस-सरोवर में लहरें उत्पन्न करा देती है। आकांक्षा मुमुक्षु जीव को शत्रुवत् प्रतीत होती है। मायाधर्म की माता है आकांक्षा। अतः आत्महितैषी जीव को कामनाओं की कमान छोड़ देना चाहिए। साथ ही स्वदोषों से ग्लानि करते हुए, घृणा की आँख से स्वसंबंधी को व प्राणीमात्र को तथा सम्यक्-साधक धर्मात्माओं को नहीं देखना चाहिए। जिस क्षण हृदय में घृणा का जन्म होता है, उसी क्षण समझ लेना कि अंदर से धर्म बिदा ले लेता है। घृणा व्यक्ति के चित्त को धर्म का शत्रु बना देती है, प्रेम और वात्सलता नष्ट करा देती है। भो प्रज्ञ! किसी से ग्लानि मत करो, सब प्राणी भावी परमात्मा हैं।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

कुण णिय-समणत्तरक्खवणं

हे पण्णाप्पा ! पबल-उज्जमेण पबल-पुण्णोदएण तुं टंकुक्किण्ण-णायगसहावं पयडमाणं जिणवेसं पावसि। अहो ! दुल्लहो मोहरिउ-विणासो, जस्स सब्भावेण अणेगजीवा भवसायरे मज्जंति। मोहग्गी अग्गीदो तिव्वतावं देदि। अग्गी इंधणसब्भावे पलीवदि, मोहग्गी अभाव-सब्भावे जीवा पलीवदि। एरिसादु पचंड-हुदासणादु पचंडतवस्सी खु णिवज्जंति, णेव सामण्णजणा। धण्णा ते भव्ववर-णरुत्तमा महव्वदि-समणा जे अग्गिं अग्गी बोहित्ता, तादो पुहं होदूणं णियरक्खणं कुव्वंति। भवाभिणंदत्तं मुंचित्तु भवादीद-मग्गे चरणं वुड्ढंति।हे चेयण ! जेण कम्मासवबंधा होदि तहा लोए णिंदा होदि, तादो कज्जादो पुहं वस। जस्स आरंभ-

''निज मुनित्व की रक्षा कर''

हे प्रज्ञात्मन्! तूने प्रबल पुरुषार्थ तथा प्रबल पुण्योदय से टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-स्वभाव को प्रकट करनेवाले जिनवेष को प्राप्त किया है। अहो! दुर्लभ है मोह-शत्रु को नष्ट करना, जिसके सद्भाव से अनेकों भवसागर में डूब रहे हैं। अग्नि से भी तीव्र ताप देनेवाली है मोहाग्नि। अग्नि तो ईंधन के सद्भाव में ही जलती है, परन्तु यह अग्नि तो अभाव व सद्भाव, उभय अवस्थाओं में प्राणियों को जलाती है। ऐसी प्रचंड-हुताशन से प्रचण्ड तपस्वी ही बच पाते हैं, सामान्य जन नहीं। धन्य हैं वे भव्यवर नरोत्तम महाव्रतधारी मुनिजन, जिन्होंने अग्नि को अग्नि समझकर, उससे पृथक् होकर अपनी रक्षा की है। भवातीत मार्ग पर चरण बढ़ा रहे हैं भवाभिनंदनपने को छोड़कर। हे चैतन्य! उन कार्यों से दूर रहना, जिनके माध्यम से कर्मास्रव तथा कर्म-बंध होता है व लोक में निंदा का भाजन होना पड़े। वही श्रेष्ठ कार्य हुआ करता है, जिसका प्रारम्भ,

मज्झावसणो सव्वत्थ पसंसणीयो, तमेव कज्जं सेट्ठं। जम्हि आदपहावणा णिहिदं, तमेव कज्जं साहुपुरिसा करंति। एरिसं उज्जमं कुज्जा जेणं पडिक्खणं कम्महाणी, तं किच्चं सिविणे वि ण कुज्जा जेणं कम्मवड्ढी। जे जोगी कम्मवड्ढीए कज्जेसुं पदत्थेसुं उज्जमरहिदा, भवभोगविरत्ता, खाइलाहपूया-भावणा- हीणा, सुहदुक्खविहूणा, समदा-समिद्धा, आदसरूवे ममत्त- जुत्ता; ते हु भवादीद-मग्गगामी हुंति। जिणमग्गं णियमग्गो साध, अण्णहा उम्मग्गे भविस्ससि, उहयसुहघादो हुज्जा। भो पण्ण! कुण णियमुणित्त-रक्खाणं वासणा-कामणाणं णक्कचक्कादो।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

मध्य व अंत सर्वत्र प्रशंसनीय हो। साधु-पुरुष वही कार्य करते हैं, जिसमें आत्म प्रभावना निहित हो। प्रतिक्षण कर्म-हानि हो ऐसे कार्य/उद्यम करना चाहिए, लेकिन वह कृत्य भूलकर स्वप्न में भी नहीं करना चाहिए जिससे कर्म-वृद्धि हो। कर्म-वृद्धि के कार्यों में, पदार्थों में जिनका मन उद्यम-रहित है, साथ ही भव-भोगों से विरक्त हैं, ख्याति-लाभ-पूजा की भावना से परे हैं, लगी है आत्मस्वरूप में ममता, सुख-दुःख से रहित हैं, समता से युक्त हैं। ऐसे योगी ही भवातीत मार्ग-गामी हुआ करते हैं। जिनमार्ग को अपना मार्ग बना, अन्यथा उन्मार्ग भी चला जाएगा, उभय सुख का घात हो जाएगा। भो प्रज्ञ! निज मुनित्व की रक्षा कर वासनाओं कामनाओं के नक्र-चक्र से।।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

जं लेठु तं पेठु

हे पण्णप्पा ! जेहिं किच्चेहिं हुज्जा सुहभावेसुं मंदत्तं, कालुस्सभाव-उग्गमो, विसंवाद-वड्ढी, वच्छल्लभावविणासो, परोप्पर-मेत्तिभावहाणी व तेहिं किच्चेहिं पुहं वस। जेण जीवं पडि व वीदरागमग्गे सड्ढा पयडदु, असच्चमग्गादो उवेक्खा जम्मदु, धम्मपहावणा वुड्ढदु, दयाभावो चरियाए णयणेसु वच्छल्लत्तं लोयदु, पुण्णापुण्णं मण्णदु, हेयोवादेय - विवेगणाणं जागरदु, कत्तव्वाकत्तव्व-झाणं आगच्छदु, सपरभेदवियाणं होदु; तमेव कज्जं कुज्जा। अवलोगण-मेत्तेणं असंतहिदयो मुणित्तं लेहंति सा खलु समणचरिया। पुणो सा खलु वित्ती कदावि ण गेण्हेज्जा, जेण अण्णस्स अणग्घसड्ढारदणं णस्सदि। संतहिदए असाहुत्त-अंकुरो ण उवज्जेज्जा।

''जिसे लिखा, उसे लख''

हे प्रज्ञात्मन्! उन कृत्यों से दूर रहना जिन कृत्यों से शुभ भावों में मंदता आती हो, कालुष्य भाव उत्पन्न होते हों, विसंवाद की वृद्धि होती हो, वात्सल्य भाव का विनाश होता हो, परस्पर में मैत्रीभाव की हानि होती हो। वही कार्य करना चाहिए, जिसके माध्यम से प्राणी मात्र के प्रति तथा वीतराग-मार्ग में आस्था प्रकट हो, असत्य मार्ग से उपेक्षा जन्म लेले, धर्म-प्रभावना में वृद्धि हो, दया-भाव चर्या में दिखे, नयनों में वात्सल्य झूरे, पाप-पुण्य को समझने लगे, हेय-उपदेय का विवेक-ज्ञान जाग्रत हो, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ध्यान आ जाए, आपा-पर का भेद विज्ञान हो जाए। देखने मात्र से असंत-हृदय भी साधुता को प्राप्त कर ले, वही साधु-चर्या है। पर ध्यान रखना, पुनः वही वृत्ति कभी नहीं स्वीकार कर लेना, जिससे किसी का अमूल्य श्रद्धारत्न नष्ट हो जाए। संत-हृदय में असाधुता का अंकुर न उग जाए।

हे पण्ण ! खंडिद-हिदया पउंज। जदि सा सत्ती ण तुवम्मि, दु संबद्ध-हिदएसु भेदं मा कुण। वट्टमाणस्स किंचि खादीए अखंडसरूवं मा भुल्ल। जं लेहसे तं पेहसे वि। सच्चं, पज्जाय-विणासो होहिदि, तेण सह तुज्झ णाम वि णस्सदि। सहजत्तं मुंचित्तु पुव्वजसोकित्ति-णामकम्मोदयवसादु जसं अभिगच्छदि, तेण किं वट्टमाणपज्जाए कम्मणिज्जरा होज्जा ? किं तुज्झ भविस्सो उज्जलो होहिसि ? जदि धम्मपहावणं इच्छसि दु पढमं पस्स तुं अण्णं अपहाविदा दु ण कुणसि। साहगस्स पहावणा णियसाहणादो होदि, णवि विसेस-धणवयादु। आदसंवेदणाओ विआय। जेट्ठं सेट्ठं लहुगुरुं पडि य सम्मभावं अभिगच्छ।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

हे प्रज्ञ! इतना अवश्य ध्यान रखना कि टूटे हृदयों को जोड़ो। यदि वह शक्ति तेरे अंदर न हो, तो कम से कम जुड़े हुए अन्तःकरणों में भेद मत डालो। वर्तमान की किंचित् ख्याति को देखकर अखण्ड स्वरूप को मत भूलो। मात्र लिखना ही नहीं, तू जिसे लिख रहा है उसे लखना भी, क्योंकि सत्य है कि पर्याय का नाश होगा, उसके साथ तेरा नाम भी समाप्त हो जाएगा। लेकिन सहजता को छोड़कर कुछ पूर्व यशःकीर्ति नाम-कर्म के उदयवशात् यश प्राप्त भी हो गया, उससे क्या वर्तमान पर्याय में कर्म-निर्जरा होगी? क्या भविष्य तेरा उज्ज्वल बनेगा? यदि धर्म-प्रभावना करने का विचार हो तो सर्वप्रथम यह देख लें कि दूसरों को अप्रभावित तो नहीं कर रहा। साधक की प्रभावना निज चर्या/साधना से होती है, न कि विशेष खर्च करने से। आत्म-संवदेनाओं को जन्म दो। ज्येष्ठ-श्रेष्ठ, लघु-गुरु सभी के प्रति साम्य भाव को प्राप्त कर।।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

मुमुक्खू णत्थि सगुण-परावगुणाणं पलेत्तिदो, सो पालदि सम्मत्तं पवित्तकरणचरणे

हे पण्णप्पा ! णियगुण-वक्खाणं णीचगोदासवहेदू। मुमुक्खू आददिट्ठा होदूणं जीवदि णेव वत्ता होदूणं। पंचपरमेट्ठि- गुण-पसंसा सोहणीया, णियमुणपसंसा असोहणीया। जहा णियपसंसा असोहणीया, तहेव परावगुण-पगासणं असोहणीयं। धम्मप्पम्हि दोसो लोयदि, दु ता एयंते उवदंसेज्जा। किण्णु जणसामण्णे णवि उब्भावेज्जा। सव्वदा णिम्मलसम्मत्तस्स उवगूहणंगं अणुपालेज्जा। जिणसासणं पडि अट्ठाओ ण वद्धारेह, दु णेव विभंजेह। अणेयसिहरबद्ध - जिणालयसंहारे जो पावं भजदि, तादो बहु-अहिगपावं तं पसजदि जो धम्म-धम्मप्पं पडि सट्ठाओ

''मुमुक्षु स्वगुण या परावगुण का व्याख्यता नहीं, वह तो पवित्र करण-चरण में सम्यक्त्व पालता है''

हे प्रज्ञात्मन्! स्व के गुणों का व्याख्याव नीच-गोत्र के आस्रव का हेतु है। मुमुक्ष जीव तो आत्मदृष्टा बनकर जीता है, व्याख्याता बनकर नहीं। पंचपरमेष्ठी के गुणों का गान तो शोभा देता है, परन्तु निजगुणों का गान शोभनीय नहीं होता। जैसे निजगुणों का गान शोभा नहीं देता, उसी प्रकार पर के अवगुणों का गान भी शोभा नहीं देता। धर्मात्माओं के अंदर कोई भी कमी दृष्टिगोचर होती हो, तो उन्हें एकांत पाकर संकेत कर देना चाहिए। सदैव निर्मल-सम्यक्त्व के उपगूहन अंग का पालन करना चाहिए। यदि तुम जिनशासन के प्रति आस्थाएँ वृद्धिंगत नहीं करा सकते, तो तोड़ने का प्रयास भी न करें। अनेक शिखरबद्ध जिनालयों के ध्वंस करने में जो पाप पड़ता है, उससे भी कई गुना पाप उस व्यक्ति को लगता है जो धर्म और धर्मात्माओं के प्रति श्रद्धाओं को तुड़वाता है। अहो! क्या

फोडावदि। अहो ! जो दंसणादु पदिदादु किण्णु णाणचारित्तं-कुव्वेमु, ताणं अप्पाणं को होहिदि ? हे भगवं ! जे कोवि एग-भामगदोसेण कइ हु णिद्दोससंजदं पडि जिणसासणं पडि रुइं विणासे णिमित्तं सिज्झंति, ताणं जीवाणं कम्मविवागो मंदो हुज्जा। असदचारिचादु कोवि संजदस्स ठिदिकरणं ण होदि। चारित्त-पदिदस्स मेत्तसंजमो मयलियदि, पडिक्कमणं पायच्छित्तं किच्चा विसुज्झेज्जा। सम्मत्त-दूसिदं सुद्धी बहुदुल्लहा, सो अणंतसंसारी।।

।।जयदु भगवं महावीरो।।

होगा उन आत्माओं का, जो दर्शन से भी पतित हो रही हैं पर ज्ञान व चारित्र की बात करें। भगवन्! उन जीवों के कर्म-विपाक मंद पड़ें जो किसी एक भ्रामक दोष को स्वीकार कर कितने ही निर्दोष संयमियों के प्रति, जिनशासन के प्रति रुचि को नष्ट करने में निमित्त बन रहे हैं। असत् चर्चाओं से किसी संयत का स्थितिकरण तो नहीं होता है। चारित्र से पतित का तो मात्र संयम दूषित होता है, प्रतिक्रमण व प्रायश्चित्त कर शुद्ध हो जाएगा; परन्तु जिसने सम्यक्त्व को ही दूषित कर लिया हो उसकी शुद्धि बहुत दुर्लभ है, वह अनंत संसारी होगा।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

परिणामाणं णिम्मलदा सम्म-संजमो

हे पण्णप्पा ! तुमं लोए गुणी-अवगुणी-गावेसणं कुज्जा, उण कदावि तुं णियावलोगणं करसि, कहं तुं? परस्स ठाणे कुण णिय-गवेसणं। संसारम्हि णियभावेहिं णिय-परिचयो होदि। णियसहावो णिम्मलो महुरो दु लोए तुमे सयलजीवा गुणी दिज्जिस्सह णियभावेसु वियारो दु पहुम्हि वि तुमे पहुत्तं ण दिज्जिस्सहि, तत्थ वि दोसा दिज्जिस्सह। भूदत्थे णियगवेसणं कुण, कहं तुं? उण्णयण-भावणादो णियदोसा पस्सेसु दु तुं णियमेण गुणसायरो होहिसि। जदा हीणभावणा जम्मेज्जा दु णियगुणं पस्सेज्जा ''कुओइ हीणो दु ण हं''?

''परिणामों की निर्मलता ही सच्चा संयम है''

हे प्रज्ञात्मन्! तू लोक में अच्छे या बुरे व्यक्ति की खोज करना चाहता है, परन्तु कभी तूने अपनी ओर भी दृष्टिपात किया है कि तू कैसा व्यक्ति है? पर को खोजने की अपेक्षा तू निज की खोज कर। कारण, संसार में निज-भावों से निज की पहचान हो जाती है। निज का स्वभाव निर्मल व मृदुल है, तो लोक में तुझे सभी लोग अच्छे-ही अच्छे दिखेंगे। निजभावों में विकार है, तो प्रभु के अंदर भी तुझे प्रभुता नजर नहीं आएगी, वहाँ भी दोष ही दृष्टिगोचर होंगे। सत्यता यही है कि अपनी निज की मार्गणा/खोज कर कि तू कैसा है? सर्वप्रथम सुधार की भावना से निज दोषों को देखना चाहिए, तो तू नियम से गुणों का सागर बन जाएगा। जब हीन भावना जन्म लेने लगे, तो अपने गुणों की ओर दृष्टिपात करना चाहिए कि मैं किसी से हीन तो नहीं हूँ?

हे अप्पा ! सपरिणामाणं रक्खेज्ज, एवंचेव आगम-आणा। भावाणं कालुस्सत्तं पस्स। जे भावा तुज्झ पडिदिणं, ते भावा सुहं दु अण्णविसेससाहणा अणवेक्खिदा। साहणं करंतं पि भावा असुद्धा दु णिस्सारसाहणा का करिस्सदि ? भवाणं णिम्मलदाए संजमसाहणं कीरेज्जा, चारित्तवेसं गेण्हेज्जा। वेसगहणं मुत्तीए ण कीरदि, वेसो देहासिदो। देहादो ण होदि मोक्खो। मोक्खो दु विसुद्धपरिणामेहिं। एवं विणा चारित्तगहणं संजमलिंगगहणं विसुद्धत्तं ण होदि। तम्हा दव्ववेसकारणं चारित्तं धारदे। जो साहगो दव्ववेसमेत्तादु मोक्खं मण्णदि सो जिणागम-णाणसुण्णो। कुभावा तज्ज णिम्मलभावा उग्घाड। असुहभावादु होदि अहयलोगविघादो। हे विसुद्ध ! जदि णियाणुभूदिं इच्छेसि दु तुं विसुद्धो होदूणं वस।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

हे आत्मन्! अपने परिणामों को सम्हाल, यही आगम की आज्ञा है। भावों की कालुष्यता को देख। जो भाव तेरे अहर्निश होते हैं, वे भाव यदि शुभ हैं तो अन्य विशेष साधना की आवश्यकता नहीं है। यदि साधना करते हुए भी भाव अशुद्ध हैं, तो कोरी साधना क्या करेगी? भावों की निर्मलता के लिए ही संयम की साधना की जाती है, चारित्र का वेष स्वीकारा जाता है। वेष धारण मुक्ति के लिए नहीं किया जाता है, क्योंकि वेष देहाश्रित है। देह से मोक्ष नहीं होता। मोक्ष तो परिणामों की विशुद्धता से होता है तथा बिना चारित्र धारण किए संयम-लिंग स्वीकार किए, विशुद्धता नहीं बन सकती। इसलिए चारित्र धारण किया जाता है, द्रव्य वेष का कारण है। जो साधक द्रव्य वेष मात्र से मोक्ष को स्वीकारता है, वह अभी जिनागम के ज्ञान से शून्य है। खोटे भावों का त्याग कर, निर्मल भावों को प्रकट कर। अशुभ भावों से उभयलोक का विघात होता है। हे विशुद्ध! विशुद्ध बनकर ही रह, यदि निजानुभूति का पान करना चाहता है तो।।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

जीवरिऊ अण्णाणं

हे पण्णप्पा ! अण्णाणमेव जीवरिऊ। जावदु पज्जाया तुं धारसे, ताणं सव्वाणं पबलहेदू अण्णाण-दसा। सपरभेदणाणं तुं ण जाणीअ। जाणि दव्वाणि तुमे कदावि ण गेण्हीअ, ताणि तुं सगस्स भासीअ, ससहावं विसरित्ताणं तादो रज्जीअ। सग्गुरुणो पदे पदे संकेदं दिंतीअ, पुणो वि तिव्व-अण्णाणत्तवसादु, ता ण वियाणीअ एवं मिगमरीचिगव्व भवाडवीए णियपाणं णासिदं। खवोवसमं पि पत्तं, किण्णु तुमं तस्स उवओगं भोगविलासत्ते, कामिच्छाए, खादि-लिच्छाए, धणपिवासाए कदो। इदि तुमं पवित्तणाणस्स खवोवसमं णस्सीअ।

वीदरागभावलद्धीए खवोवसम - णाणोवओगं किंचि वि

''अज्ञान ही जीवन का शत्रु''

हे प्रज्ञात्मन्! अज्ञान ही जीवन का शत्रु है। जितनी पर्यायें आज तक तुझे धारण करना पड़ी हैं, उन सब का प्रबल हेतु अज्ञान-दशा ही है। स्वपर के भेदज्ञान को नहीं जान सका। जिनद्रव्यों ने तुझे कभी नहीं स्वीकारा, उन्हें ही तू अपनी कहता रहा, स्व-स्वभाव को भूलकर उनसे चिपका रहा। सद्गुरुओं ने समय-समय पर संकेत भी दिए, फिर भी तीव्र अज्ञानतावश उन्हें तो समझ नहीं सका और मृग-मरीचिका के समान भव-अटवी में अपने प्राण गंवाता रहा। क्षयोपशम भी प्राप्त किया, पर उसका उपयोग तूने भोग-विलासता में, कामेच्छा, ख्याति की लिप्सा में, धन की पिपासा में किया। इस प्रकार पवित्र ज्ञान के क्षयोपशम को तूने नष्ट किया था।

वीतराग भाव की प्राप्ति हेतु इस क्षयोपशम ज्ञान का जरा भी उपयोग नहीं किया। श्वान के द्वारा अस्थि चरवन के तुल्य भोगों के

ण कुणसि। गंडगेण अत्थिचरवणमिव भोगाणं असच्चसुहदुक्खे भवसुहं भूदत्थसुहकप्पणा महा-अण्णाणत्तं। रे मूढ ! किं सायरो सहस्स-सरिदा-संगादु संतुस्सदि ? किं संतुस्सेहिदि ? णेव। उत्तरो हि होहिदि। तहेव अणंत-कामिणी-कामणादो आसादो काम-वासणाओ कदावि ण णस्संति। बंभचेरस्स णिम्मलपालणादु एवं जिणवाणीए अज्झयण-सवणचिंतणादु विलास-भावणाओ वीदरागत्ते परिणमंति। कोवि अवरसाहणं णत्थि। पज्जायादु कड्ढिदूण णियदिट्ठिं दव्वं पस्स। णाणामिदं भुंज। आदजेमणं णाणं। पोग्गलस्स दु पज्जायजण्ण-सादो, विभावदिट्ठि-परिणामो। हे चेयण्ण ! सहावदिट्ठिं पावित्तु कुण अण्णाण-विणासं।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

असत्य सुख-दुःख, भवसुख को सत्य-सुख मान बैठना महा-अज्ञानता है। रे मूढ! क्या सहस्त्रों/सरिताओं के मिलने से कभी सागर तृप्त हुआ है? वह तृप्त क्या होगा? नहीं। उत्तर होगा। उसी प्रकार अनंत कामिनियों की कामना कर लेना, परन्तु कामवासनाएँ कभी भी आशाओं से नष्ट होने वाली नहीं हैं। ब्रह्मचर्य के निर्मल पालन तथा जिनवाणी के पठन-पाठन-श्रवण-चिंतन से विलास भावनाएँ वीतरागता की ओर परिवर्तित हो सकती हैं। अन्य कोई माध्यम नहीं है। पर्याय से अपनी दृष्टि हटा कर द्रव्य पर लगा। ज्ञानामृत भोजन का पान कर। आत्मा का भोजन तो ज्ञान है। पुद्गल का तो पर्यायजन्य स्वाद है, विभावदृष्टि का परिणाम है। हे चैतन्य! स्वभाव-दृष्टि को प्राप्त करके अज्ञान का नाश कर।।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

सिढिलायार-पंकादो कुण णियरक्खणं

हे पण्णप्पा ! पुण्णिमा-हिमकरादु सिक्खं गेज्झ। अमावस्साए रयणिं पस्सिदूणं पत्तेगजीवो भएदि। सयल-असुहसंजोगा पाएण किण्हरत्तीए होंति। अहो ! जहा तुमं किण्हरयणीदो डरसि, तहेव असुह-किण्हपावादो भयं अवेक्खिदं। रत्तीए दुग्घडणा होदि दु मेत्तं वट्टमाणपज्जायहाणी होहिदि। पावरत्तीए दु तुज्झ अणेगभवा झूरिहिध। असुहकिच्चं हि जीवस्स अमावस्सा। संजमाचरणं चारित्त-परिणामो दु पुण्णिमा-हिमकरो, जम्हि सगपरणाणं होदि। पगासे कोवि पहभट्ठो ण होदि। चारित्तम्हि सिढिलत्तं कोवि ठाणं णत्थि। मिहिरे कलंको दिस्सदे, सम्मं साहगम्हि दु सो वि ण होदि। वीदरागिं मिहिर-हिमकरादु वि सेट्ठं णिद्दिट्ठं। मिहिरम्हि कलंको

''शिथिलाचार की कर्दम से निज की रक्षा करो''

हे प्रज्ञात्मन्! पूर्णिमा की चाँदनी से शिक्षा ग्रहण कर। अमावस्या की अंधेरी रजनी को देखकर प्रत्येक व्यक्ति को भय उत्पन्न होने लगता है। सम्पूर्ण अशुभ घटनाएँ अधिकांशतः कृष्ण रात्रि के समय घटती हैं। अहो! कृष्ण रजनी का जैसे तुझे डर लगता है, वैसे अशुभ/कृष्ण/कल्मष पापों से डरने की आवश्यकता है। रात्रि में यदि दुर्घटना घटती है तो उससे मात्र वर्तमान पर्याय की हानि होगी, परन्तु पापों की अंधेरी में तो तेरे भव-भव बिगड़ जाएँगे। अशुभ-कृत्य/पापाचरण ही जीवन की अमावस्या है। संयमाचरण/चारित्र परिणाम तो पूर्णिमा की चाँदनी है, जिसमें स्वपर का ज्ञान हो जाता है। प्रकाश में कोई भी पथभ्रष्ट नहीं होता। चारित्र में शिथिलता को कोई स्थान नहीं है। एक बार चंद्रमा में कालिमा तो दृष्टिगत होती है, परन्तु सच्चे साधक में वह भी नहीं होती।

त्थि, जेण्ह-जोइस्स अंतसे सो कलंको वि ण होदि तम्हा णिग्गंथजोइ-चरिया मिहिरा विसुद्धा। दियंबर-जोई सायरसमो गुणपुण्णो; एसो णत्थि। सायरो - अणेग - पवित्तापवित्त-सरिदासलिलादो पूरदो, णं समणचित्तम्हि पवित्तचारित्त-गुणसलिलो होदि। तत्थ समलत्तं ण कोवि ठाणं। जोई आदिच्चसमो ओजस्सी, एसो वि णत्थि। आदिच्चो जीवं संताविदो करेदि, किण्णु चारित्तादिच्चो उज्जलंतो वि पत्तेगं जीवं संतिसंतोसं देदि, कस्स वि जीवं दुक्खं ण देदि। जेण्हजोई कमलमिव कोमलं एवं मालदी-अदिकेसरो व्व सुवासिदो हुंति। ते णियचारित्त सुगंधेण भत्तरूवभमरा सहजं सगं पडि विलोहंति। हे पण्ण! एदं वीदरागचारित्तं तुमं पुव्वपुण्णोदएणं तहा गुरुपसाएणं पावसे।

वीतरागी त्यागी को चंद्रमा की चाँदनी से भी श्रेष्ठ कहा गया है। कारण, चंद्रमा में कलंक या धब्बा है, परन्तु जैन योगी के अंदर वह धब्बा नहीं होता है, इसलिए चंद्रमा से भी स्वच्छ होती है निर्ग्रंथ योगी की चर्या। यदि कोई कहे कि दिगंबर योगी सागर जैसे गुणों से पूर्ण हैं, तो वह बात भी घटित नहीं होती। कारण, सागर तो अनेक पवित्रापवित्र नदी-नलों के जल से पूरित होता है, लेकिन श्रमण के अंदर पवित्र चारित्र-गुणों का जल हुआ करता है। वहाँ समलता को कोई स्थान नहीं है। यदि कोई कहे कि योगी सूर्य-जैसा प्रतापी होता है, तो वह उपमा भी अच्छी नहीं लगती। कारण, सूर्य तो लोगों को संतापित भी करने लगता है, परन्तु चारित्र-सूर्य प्रकाशित होते हुए भी प्रत्येक प्राणी को शान्ति व संतोष प्रदान करता है, किसी भी जीव को कष्ट नहीं देता। कमलवत् कोमल व मालती, गुलाब-जैसे सुवासित रहते हैं जैन योगी। वे अपने चारित्र की सुगंध से भक्तरूपी भौंरों को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। हे प्रज्ञ! ऐसे

णियभावं संरक्खेज्जा। खीरसायरसलिले कोवि जलजंतू ण हुंति। तं णिज्जंतुगसलिलं तित्थयरबालगस्स जम्माहिसेग-उवओगे आगमदि। भो चेयण्ण! तुज्झ णिम्मलमणो असुहभाव-जंतुविहूणो हवहि, णिम्मलमण-सलिलो आददेवाहिसेगस्स हवहि।

लोए णाणीजणेहिं जो साहगस्स आराहणा-पूयण-कित्तणं च करिज्जादि, सो णत्थि वेसस्स दु साहुपरिणामाणं एव। णियपरिणामा पडिपलं संरक्ख। तुज्झ कोवि किरियाए चरियाए णमोत्थुसासण- हासो ण होहि। अज्ज पत्तेगसावग-विण्णगणा तुमे णिम्मलदिट्ठीए पस्सित्था। णत्थि तुज्झ देहं वा णाणमेत्तं पस्सिदूणं, किण्णु वीदराग जिणिंददेवस्स सुद्धसंजम-सरूवं पस्सिदूर्ण सड्ढाजुत्ता होंति। तुमं कित्ति-पदिट्ठाए पडिभादूण संजम-उत्तरपडे

वीतराग चारित्र को तूने पूर्व पुण्योदय से तथा गुरु-कृपा से प्राप्त किया है। सम्हाल निज-भावों को। क्षीर-सागर के जल में कोई जल-कीट नहीं होते। वह निर्जंतुक सलिल तीर्थंकर बालक के जन्माभिषेक के काम आता है। भो चैतन्य! तेरा निर्मल मन अशुभ भावों के कीटों से रहित रहे, निर्मल मन सलिल आत्म-देव के अभिषेक के लिए हो।

लोक में ज्ञानी-जनों के द्वारा जो साधक की आराधना-पूजन-कीर्तन किया जाता है, वह वेष का नहीं, साधु-परिणामों का है। अतः निज परिणामों को प्रतिपल संभाल कर रखना। ध्यान रखना कि तेरी किसी भी क्रिया या चर्या से नमोस्तु शासन की हँसी न हो। आज प्रत्येक श्रावक व विद्वान्-गण निर्मल दृष्टि से देखते हैं, तुझे। तेरे शरीर या ज्ञान मात्र को देखकर नहीं, अपितु वीतराग जिनेन्द्र देव के शुद्ध संयम-स्वरूप को देखकर श्रद्धान्वित होते हैं। तू ख्याति, प्रतिष्ठा में फूलकर संयम की

सिढिलायरपंकं मा जुंज। संजमं धार। जस्स पवित्तचारित्तस्स अज्जोपाय जहा तुमं पालसि, तहेव णिद्दोससंजमपालणं कुणधि। कोवि पंथगत्ते ण पड। मज्झत्थभावं धार विवरीद-वित्तीए। णो रागो णो दोसो णेव तेसिं पोसणं। सच्चसंजमो जीवसिंगारो, तस्सेव साधणं कुण।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

चादर में शिथिलाचार की कर्दम मत लगा। संयम धारण कर। जिस पवित्र चारित्र का जैसा आज तक तूने पालन किया, वैसा ही निर्दोष संयम का पालन करते रहना। किसी पंथ/आम्नाय/सम्प्रदाय के गर्त में नहीं पड़ना। विपरीत वृत्तिवालों में माध्यस्थ रहना। न राग, न द्वेष, न ही उनका पोषण करना। सत्य संयम ही जीवन का शृंगार है, उसी की साधना कर।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

सज्जन और दुर्जन का स्वभाव-

वारि हंस इव क्षीरं सारं गृह्णाति सज्जनः।
यथाश्रुतं यथाकृच्यं शोच्यानां हि कृतिर्मता।।

जिस प्रकार हंस मिले हुए दूध और पानी में से मात्र दूध को ग्रहण कर लेता है; उसी प्रकार सज्जन भी सारभूत अंश को ग्रहण करता है; किन्तु दुर्जन लोग जनश्रुति और अपनी रुचि के अनुसार ही कार्य करते हैं।

सम्मत्तहेदुं जिणदंसणं

हे पण्णप्पा ! जदा जीवस्स पबलपुण्णेदयो उग्घाडदि, तदा तित्थभूमि - पुण्णभूमिदंसणं। वीदरागजिणदेव - वंदणा वीदरागभावाणं पयडीकरणे पच्चक्खहेदू। सो भव्ववरो पबलपुण्णप्पा जो पदे पदे जिणाराहणाए रज्जदि। अखंड-धुव्वसरूवपप्प-जिणदेवस्स बिंबं आदबिंब सिमरणं करेदि। अज्ज आदा आणंदिदो, हिदयकमलं सोरहं पावदि। सुरम्मकाणणे विज्जदे, एदाणि जिणबिंबाणि संति-कुंथु-अरणाह-तित्थेसस्स सिमरणं करंति। अहो ! धण्णो सो सेट्ठसावगो जो सम्मत्तुप्पत्ति-णिमित्तभूदाणं तित्थयर-बिंबाणं ठावणं कुव्वदि। अयं ण समसगढो, समणगढो एव, जत्थ समणाणं आरज्झदेवो विज्जदे। एत्थ मम इह

''सम्यक्त्व का हेतु है जिन-दर्शन''

हे प्रज्ञात्मन्! जब जीव का प्रबल पुण्योदय प्रकट होता है, तब तीर्थभूमि, पुण्य-भूमि के दर्शन होते हैं। वीतराग जिनदेव की वंदना वीतराग भावों को प्रकट करने में प्रत्यक्ष हेतु है। वह भव्यवर प्रबल पुण्यात्मा है जो बार-बार जिनाराधना में लवलीन रहता है। अखण्ड ध्रुव-स्वरूप को प्राप्त हुए, जिनदेव का बिम्ब आत्म-बिम्ब की याद दिलाता है। आज आत्मा आह्लादित हुआ, हृदय-कमल सौरभ को प्राप्त हुआ। सुरम्य कानन में विराजे ये जिन बिम्ब शान्तिनाथ कुंथुनाथ अरहनाथ तीर्थेश की याद दिला रहे हैं। अहो! धन्य हो वह श्रेष्ठ श्रावक जिसने सम्यक्त्व उत्पत्ति में निमित्तभूत तीर्थंकर बिंबों की स्थापना की है। यह समसगढ़ नहीं, श्रमणगढ़ है, जहाँ श्रमणों के आराध्य देव विराजे हैं।

तवोभूमीए समणा पुव्विं विज्जंते। आयरिय - सुहचंदसामिस्स एवंचेव तवोभूमी। जिणबिंब-वंदणं किच्चा, एवंचेव भावणा अत्थि, अम्ह वि पावेमो जिणगुणसंपत्ती।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

यहाँ मेरी इस तपस्थली पर मुनिराज पूर्व में विराज चुके हैं। कहा जाता है कि आचार्य शुभचंद्र स्वामी की यही तपस्थली है। जिनबिंब की वंदना कर यही भावना है कि जिनगुणों की संपदा मुझे भी प्राप्त हो।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

विपत्ति से बचने का सही उपाय–

विपदस्तु प्रतीकारो निर्भयत्वं न शोकिता।
तच्च तत्त्वविदामेव तत्त्वज्ञाः स्यात् तद्बुधाः।।

विपत्ति से बचने का उपाय निर्भयपना ही है, शोक करना नहीं; और वह निर्भयता तत्त्वज्ञानियों में होती है। अतः सभी को तत्त्वज्ञानी होना चाहिए।

धम्मजसणासग – संगदीदु ऊसर

हे पण्णप्पा ! अग्गितावादु अहिगसंतावववंतो अवजसो। जस्स णामस्स पुव्विं सिरि-उच्चारणं करेदि, जस्स णाम-उच्चारणे जणसामण्णा गउरवजुत्ता, तं विउल-पुण्णवंत- णामसिमरणं करंतं कदावि ण थक्कंतु, तस्सेव जीवो उत्तमो। सजसो थोवजीवणकालो वरो, अवजसस्स दिग्घजीवणकालो णिस्सारो। पाणंतो वि हुज्जा, तह वि सग-पदिट्ठं ण विद्धंसेज्जा। जो जीवं परिपालंतं आसी, दु अवजसं दलावंतं आसी, सो दव्वं हेयं। णाणी विवेगी तं दव्वं चागं हरिसत्तेण कुणदि, णेव पदिट्ठाचागं। उत्तं च-''किं कित्तीदो बहुमुल्लं इदं चम्म-अट्ठिमयदेहं जो तुमं अवजसेण सह जीवसि?''

''धर्म, यशनाशक संगति से पृथक् रहें''

हे प्रज्ञात्मन्! अग्नि के ताप से भी ज्यादा संताप देनेवाला अपयश होता है। जीवन उसी का श्रेष्ठ है जिसके नाम के आगे सर्वप्रथम श्री का उच्चारण किया जाता है, जिसका नाम लेने में जनसामान्य अपने आपको गौरवान्वित समझते हों, उस बडभागी के नाम को स्मरण करते-करते कभी थकान न हो। यश के साथ अल्प जीवन जीना श्रेष्ठ है, परन्तु अपयश का दीर्घ जीवन जीना भी व्यर्थ है। चाहे प्राण ही क्यों न समाप्त हो जायें, तो भी अपनी प्रतिष्ठा को समाप्त नहीं करना चाहिए। वह द्रव्य भी छोड़ने योग्य है, जो जीवन को बचाने वाला था, लेकिन अपयश दिलाने वाला था। ज्ञानी/विवेकी तद्द्रव्य का खुशी के साथ परित्याग कर देता है, परन्तु प्रतिष्ठा का त्याग नहीं करता। कुरल-काव्य में कहा है-''क्या कीर्ति से बड़ी कीमत इस चर्म-अस्थिमय शरीर की है जो तू अपयश के साथ जी रहा है?''

विडवादो काणणसोहा, माणवादो चोसारसोहा, सुगंधादो चंदण-सोहा, तवस्सादो तवस्सीसोहा, पमादरहिद-विज्जज्झयणादो विणेयसोहा, तहेव णिम्मलजसादो जीव-वत्तित्तसोहा। गहत्थ-सावगो साहगसमणो कोवि कज्जसंपुण्णदाए पुव्विं तं पढमो अयं णिज्झेज्जा अमुगकिच्चेण मज्झ कित्तीए किं पहावो? जसवंता अप्पो वि धम्मकज्जं कीरंते दु तेहिं विराड-पहावणा होंति। तमेव किच्चं पसंसणीयं, जेण धम्मजसवड्ढी। इट्ठविओगो अहवा णियपाण-विओगो वि हुज्जा, पुणो वि धम्मजसहाणीए कज्जादु तुमं अवगच्छ।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

कानन (वन) की शोभा वृक्ष से है, आँगन की शोभा बच्चों से है, चंदन की शोभा सुगंध से है, तपस्वी की शोभा तपस्या से है, विद्यार्थी की शोभा प्रमाद-रहित विद्याध्ययन से है, उसी प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व की शोभा निर्मल यश से है। चाहे गृहस्थ-श्रावक हो चाहे साधक-श्रमण हो, किसी भी कार्य को सम्पन्न करने के पूर्व उसे सर्वप्रथम यह ध्यान रखना चाहिए कि अमुक कृत्य से मेरी कीर्ति पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यशस्वीजन अल्प भी धर्म कार्य करते हैं तो उनके माध्यम से बृहद्-प्रभावना होती है। वही कृत्य श्लाघनीय है, जिससे धर्म-यश की वृद्धि हो। धर्म-यश की हानि के कार्यों से तू दूर रहना, चाहे इष्टमित्र/बन्धु का भी वियोग क्यों न हो, यहाँ तक निज प्राण भी क्यों न जाएँ।।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

आदविसुद्धिरक्खवा मज्झत्थदा

हे पण्णप्पा ! पुण्णपबलदाए पुण्णकज्जं मा भुल्ल। पुण्ण-फलोदए संरक्ख। तम्हि समए जीवो असुहकम्मोदयं भुल्लदि, पुण्णकम्मस्स ठाणे पावपउत्तीए गच्छदि, सगं सव्वसेट्ठं मण्णदि। ताए भावणाए पुण्ण-अहंभावो मिस्सिदो। धम्मायदण-चिंता वि ण होदि किं हुज्जा ? किं परिणामो होहिदि भविस्से ? पुण्णोदयो णत्थि बंधहेदू। पुण्णफले रज्जित्तु सपरविवेगस्स अभावो, धम्मधम्मप्पाणं पडि अणादरदिट्ठी, संजमे सिढिलायारपोसणं, सगचरियं आगम-विहिदचरिया बविदूणं अण्णसाहगस्स चरियं आगम-अणणुकूलं बविदूणं असड्ढा - उप्पादणं, बंधस्स हेदू। पढमो बुज्झ, साहुविसेसचरिया आगमो णत्थि, साहू आगमाणुसारेण चरियं

''आत्मविशुद्धता की रक्षा माध्यस्थता''

हे प्रज्ञात्मन्! पुण्य की प्रबलता में कहीं पुण्य कार्य को मत भूल जाना। पुण्य-फलोदय में सम्भलना अनिवार्य है। कारण, व्यक्ति उस समय अशुभ कर्मोदय को भूल जाता है, पुण्यकर्म की अपेक्षा पाप-प्रवृत्ति में चला जाता है, अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मानता है। उस भावना में पूर्ण अहंभाव मिश्रित रहता है। धर्मायतनों की भी चिंता नहीं रहती कि क्या हो रहा है, क्या परिणाम निकलेगा भविष्य में। पुण्योदय बंध का हेतु नहीं है। बंध का हेतु पुण्य के फल में लीन होकर स्वपर विवेक का खो जाना है, धर्म-धर्मात्माओं के प्रति अनादर दृष्टि का आ जाना है, संयम में शिथिलाचार का पोषण करना है, स्वचर्या को आगम-विहित चर्या कहकर अन्य साधकों की चर्या आगमानुकूल नहीं है-ऐसा कहकर अश्रद्धा उत्पन्न कराना है। सर्वप्रथम यह जानना अनिवार्य है कि साधु-विशेष की चर्या आगम नहीं है, साधु आगम के अनुसार चर्या करता है। हो सकता है किसी

कुव्वदि। जदि साहगअंतसे आगमाणुकूल-पउत्तीए अप्पत्तं दु सेट्ठुसाहगो तदो उम्मागादु परिपालित्ता सुमग्गोवएसं देदूण णमोत्थुसासणं उज्जलो कुज्जा, किण्णु उवेक्खं ण कुज्जा। उवेक्खाए पढमो उण्णयणो अणिहिदो। उम्मग्गिणो पढमो सदुवएसं हि दिज्जा। पढमं दे उवएसं, जदि सो ण गेण्हदु, तदा णियपरिणामाणं णिम्मलत्तरक्खणत्थं मज्झत्थो हवसु। एदी पउत्ती करमाणो साहगो जिणसासणभत्तो, ण अण्णो णेव अण्णहा। एवं हीणचारित्तवंत-साहगं पस्सित्तु सयलसंजदा तं एव ण पस्सेज्जा। जदि जणगस्स असुहपउत्ती दु किं सुद-पउत्ती वि तहेव होहिदि? एई वत्ती ण संघडदि। सुदस्स असुहपउत्ती दु जणगस्स वि असुहपउत्ती; एई वत्ती वि ण संघडदि। विणा पमाणेण साहगस्स कोवि सिढिलचरियं

साधक के अंदर आगमानुकूल प्रवृत्ति में कमी हो, तो श्रेष्ठ साधक को चाहिए कि वह उन्हें उन्मार्ग से बचाए, सद्मार्ग/समीचीन मार्ग का उपदेश देकर नमोस्तु-शासन को उज्ज्वल बनाकर रखे, परन्तु उपेक्षा न करे। उपेक्षा में सर्वप्रथम सुधार निहित नहीं है। उन्मार्गी के लिए सर्वप्रथम सदुपदेश ही देना चाहिए। सर्वप्रथम उपदेश दो। यदि वह नहीं स्वीकार करे, तब निज-परिणामों के रक्षण हेतु माध्यस्थ हो जाए। ऐसी प्रवृत्ति करनेवाला साधक जिनशासन का भक्त होता है, अन्य नहीं, अन्यथा नहीं। साथ ही यह भी ध्यान रखे कि एक हीन चारित्रवान् साधक को देखकर सभी संयमियों को वैसा-ही नहीं देखना चाहिए। अरे भाई! यदि जनक की अशुभ प्रवृत्ति हो, तो क्या सुत की प्रवृत्ति भी वैसी ही होगी? ये व्याप्ति घटित नहीं होती। सुत की अशुभ प्रवृत्ति हो तो पिता की भी अशुभ प्रवृत्ति हो, यह भी घटित नहीं होता। किसी भी साधक की किसी शिथिल चर्या को देख-सुनकर जो शीघ्र विश्वास कर लेता है, बिना प्रमाण के तो

पस्सिदूणं सुणिदूणं जो सिग्घेणं सद्दहदि सो विवेगणाणसुण्णो। अहो अच्छेरं! आगमे उवगूहण-ठिदिकरणंग-वण्णणं। सुदिट्ठीए तेसिं पालणं आवस्सो। पुण महव्वदिस्स किं तेसिं परिहारो? बहुपसिद्धणिग्गंथा वि अज्ज मोणं। धम्मस्स किं होहिदि? णमोत्थुसासणस्स हस्सं किं सव्वे हेरिस्संति सुणिस्संति? किं अट्ठंगपालणो गंथेसु णिवसिहिदि? अहुणा जिणभत्तसेठ-वारिसेण-विण्णुकुमारा के होस्संति? धण्णा ते महप्पा जे अरहंतदेव-मग्गरक्खणं धम्मधम्मप्परक्खणं किदा।

हे अप्पा! तुं एयं किच्चं मा कुण, जेणं धम्मं पडि जण-सामण्णा अणत्था-उप्पज्जेज्जा। सोचेव कज्जं कुण, जेणं अत्थाणं जम्मेज्जा।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

वह विवेकज्ञान से शून्य है। अहो आश्चर्य! आगम में उपगूहन व स्थितिकरण अंग का वर्णन है। सम्यक्त्वधारी के लिए उनका पालन अनिवार्य है। फिर महाव्रती के लिए क्या उनकी छूट है? बहुचर्चित निर्ग्रंथ भी आज-मौन बैठे हैं। क्या होगा धर्म का? नमोस्तु शासन की हँसी को क्या यूँ ही सब देखते-सुनते रहेंगे? क्या आठ अंगों का पालन ग्रन्थों में ही लिखा रहेगा? अब कौन होगा जिनभक्त सेठ, कौन होंगे वारिषेण, विष्णुकुमार? धन्य हो उन महान् आत्माओं को जिन्होंने अरहंत देव के मार्ग की रक्षा की थी, धर्म-धर्मात्माओं की रक्षा की थी।

हे आत्मन्! तू स्वयं ऐसा कृत्य मत कर जिससे धर्म के प्रति जनसामन्य को अनास्था उत्पन्न होवे। वही कार्य करना, जिससे आस्थाओं का जन्म हो।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

अपद-परिणदी णोहणीया

हे पण्णप्पा ! तुमं लोगुत्तरपदं पावसि। साहुपरमेट्ठिपदो णत्थि सामण्णपदो। अहो इमा अवत्था ! जेण सिद्धपदलद्धी। आद-देवादो संजोगो इमादु पदादु। साहुवेसलाहेण विणा समाहिसाहणा असंभवो। एत्थ साहुसहावं परूवेमि। जदा मुणी आयरिय-उवज्झाय-अवत्थाए होहिदि तदा ससहावे ण अभिरमेहिदि। ससहावलीणत्तं णिच्चल-णिच्छल-णिद्दुंद-णिव्वियार-णिप्पिह-जोईणं खलु हुज्जा। णणु आयरिय-उवज्झाय-परमेट्ठिं आदज्झाणं ण होदि? एसो णिसेहो णत्थि। जदा उहयपरमेट्ठी अप्पझाणे अभिरमंति तदा ते आयरिय-उवज्झायपदवियप्पादु पुहं होंति। एवंचेव अवत्था

''स्वपद परिणाति ही शोभनीय है''

हे प्रज्ञात्मन्! तूने लोकोत्तर पद को प्राप्त किया है। साधु-परमेष्ठी-पद सामान्य पद नहीं है। अहो, यह अवस्था, जिसके माध्यम से सिद्ध-पद की प्राप्ति हुआ करती है। आत्म-देव से जब मिलन होगा, तब इसी पद से होगा। बिना साधु-भाव को प्राप्त हुए समाधि की साधना संभव नहीं। यहाँ साधु-स्वभाव की बात कह रहा हूँ तात्पर्य इसका समझना कि आचार्य या उपाध्याय की अवस्था में जब मुनि होगा उस समय स्वस्वभाव में लीन नहीं होगा। स्व-स्वभाव की लीनता एकमात्र निश्छल, निश्चल, निर्द्वंद, निर्विकार, निस्पृह योगी मुनिजों की ही होगी। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या आचार्य उपाध्याय परमेष्ठी को आत्मध्यान नहीं होता? अरे भैया! कौन निषेध कर रहा है? परन्तु ध्यान रख, जब उभय परमेष्ठी आत्मध्यान में लीन होते हैं उस समय वे आचार्य, उपाध्याय पदों के विकल्प से भिन्न होते हैं। यही अवस्था साधु परमेष्ठी की भी

साहुपरमेट्ठीणं बुज्झेज्जा। जदा आयरियत्तं पालंतं तदा तेसिं दिट्ठी सिस्स-सिस्सासु हुंति, ववहारेणं चेल्लाचेल्लीए चलिज्जदि, एगाहिगाररूवपरिणामो होंति। तहेव उवज्झायपरमेट्ठिं अण्ण-समणा विज्जब्भास-पडिपज्ज-भावो होंति, वादीदो वागजुद्धो वि करंते। परमट्ठेण तक्काले सहावादु पुहं होंति। ववहारेण अयं आवस्सगो, किण्णु साहुपरमेट्ठिं ववहार-चरिया वि मेत्ते-सहिदरूवा होदि, मुक्खरूवेण ता विसेसं अण्णकज्जं ण हुंति। णेव ता पर-वावरेसु गच्छेज्जा। जे साहुगणा बहिपवंचतम्मया, ते लोगुत्तरपदं लहित्ताणं वि लोगिगरूवा। सपदपत्तीए जिणलिंगं खलु वेसो, तं पावित्तु णायग-अहिणायगोव्व व तेसुमेव ण संलग्गेज्जा। इमा अवत्था मोक्खमग्ग-णायगस्स, कोवि देसस्स रागी-दोसी मंचगणायगाणं णत्थि। दिट्ठिं संरक्ख, सपदाणुसारेण परिणम। जं कज्जं जस्स

समझना। आचार्यत्व का पालन करते समय उनकी दृष्टि शिष्य-शिष्याओं में रहती है, व्यवहार से चेला-चेली में चली जाती है, एक अधिकार रूप परिणाम रहते हैं, उसी प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी को अन्य यतियों को विद्याभयास कराने के भाव रहते हैं। वादियों से शास्त्रार्थ (वाग्युद्ध) भी करने होते हैं। उस काल में परमार्थ-दृष्टि से देखें तो स्वभाव से पृथक् होते हैं। व्यवहार से यह आवश्यक भी है, लेकिन साधु-परमेष्ठी को व्यवहार चर्या भी मात्र स्वार्थ-रूप ही होती है, मुख्य रूप से उन्हें विशेष अन्य कार्य नहीं होते। न साधुपरमेष्ठी को पर-व्यापारों में पड़ना चाहिए। जो साधुगण बाह्य प्रपंचों में संलग्न हैं, वे लोकोत्तर पद को प्राप्त करके भी लौकिक रूप ही हैं। स्वपद-प्राप्ति का एकमात्र वेष जिनमुद्रा है उसे प्राप्त करके नेता-अभिनेताओं के तुल्य व उनमें ही नहीं लगा देना चाहिए। यह अवस्था तो मोक्षमार्ग के नेता की है, किसी देश/राष्ट्र/समाज के

पदस्स अणुकूलं, तमेव कज्जं जीवं कुज्जा। इदि गरिमा जसो सपदस्स। मुणिपद जोग्ग-कज्जं मुंचित्तु साहगो जदि गहत्थो व्व कज्जसेलिं गेज्झदि दु लोहवसादु कित्ती विलिज्जदि। साहुकज्जं तवो सुदो, अण्णो कोवि कज्जं णत्थि। जस्स लद्धीए संजमो गेज्झीअ, तं किमु ण पावेह? विलज्ज। जदा एगबालगो सग-बालचेट्ठाओ ण मुंचदे तदा हे भदंत ! तुमं णियमुणित्तचेट्ठावित्तिं किमु विसरसे? मा भुल्ल सग-साहुलिंगं।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

रागी-द्वेषी मंचक नेता/अभिनेताओं की नहीं। दृष्टि को सम्हाल, स्वपद के अनुसार ही परिणमन कर। जो कार्य जिस पद के अनुकूल हो, वही कार्य व्यक्ति को करना चाहिए। ऐसी गरिमा-यश स्वपद की है। मुनि-पद के योग्य कार्य को छोड़कर साधक यदि गृहस्थ-जैसी कार्यशैली को स्वीकारता है, तो लोभवशात् ख्याति समाप्त हो जाती है। साधु का कार्य तप और श्रुत है, अन्य कोई कार्य नहीं है। जिसकी प्राप्ति के लिए संयम स्वीकारा था, उसे क्यों नहीं प्राप्त करते? लज्जा करो। एक बालक भी अपनी बाल चेष्टाओं को नहीं छोड़ता, पर हे भदन्त! आप अपनी मुनित्व चेष्टा-वृत्ति को क्यों भूल रहे हो? न भूलो स्व साधु-लिंग को।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

तव पहु त्थि तुए अंदरम्हि

हे परमाणंद-सहावी-अप्पा ! सपरपगासी तुमो सहावो, सपरं च जाणणा। सगं सगरूवं परं पररूवं च। परो सगो ण होदि, णेव सगो परो होदि। भवण्णवे भमणस्स एवंचेव कारणं। भिण्णदव्वं अभिण्णं मण्णीअ। णियदीवेण णियं ण पभासीअ। परपगासेहिं परं हि पस्सीअ।

तुज्झ दीवो सम्मणाणं। जम्हि सद्धा-तेलो एवं चारित्त-बत्ती। अयं दीवो तुमे मोक्खपहं भावदि। हे पण्ण ! सत्थागम-पुराणा दीवो व्व, णेव रदणो। जह -तमोमयकच्छे ठिदे रदणे दीवपगासेण पस्सित्ता गेण्हंति एवं दीवं मुंचंति तहेव आगमपगासेण आदधम्मरदणं पस्सित्ता गेण्ह। मेत्तगंथसंगहादो णो आदधम्मलद्धी

''तेरा प्रभु तेरे अंदर''

हे परमानंद स्वभावी आत्मन्! तेरा स्वभाव स्वपर प्रकाशी है। स्व को जानना तथा पर को भी जानना है। स्व को स्व-रूप और पर को पर-रूप जानना। पर स्व नहीं होता, स्व कभी पर नहीं हो सकता। भवार्णव में डुबकियाँ लगाने का यही कारण रहा। भिन्न द्रव्य को अभिन्न मानता रहा। निज दीप से निज को प्रकाशित नहीं कर सका। पर-प्रकाशों से पर को ही निहारता रहा।

दीप तेरा सम्यग्ज्ञान है जिसमें श्रद्धा का तेल तथा चारित्र की बाती है। यह दीप तुझे मोक्ष पथ को दिखाता है। हे प्रज्ञ! शास्त्र, आगम, पुराण ये सब दीपक तुल्य हैं, रत्न नहीं। जैसे, अंधेरे कमरे में रखे रत्नों को दीपक के प्रकाश से देखकर ग्रहण कर लेते हैं तथा दीपक को छोड़ देते हैं, उसी प्रकार आगम के प्रकाश से आत्मधर्म रूपी रत्न को देखकर स्वीकार कर लो। मात्र ग्रंथों के संग्रह से आत्मधर्म की प्राप्ति नहीं होती।

सो वि परदव्वं। सत्थरागं मुंचेहिसि तदेव तुमं सत्थो होहिसि। तित्थयरमहावीररागो भगवं - गोदमसामिं केवल्लपगडम्हि रुंभीअ। पारंभे सो रागो वरो, णवरि सो णो विसयाणुरागो, सो धम्माणुरागो किंदु सरूवे लीणदाए सयलरागादो पुहं हवीअ। बाहुबलीसामिं अप्पवियप्पो खाइगणाणपगडम्हि रुंभीअ। जहेव वियप्पो खयीअ तहेव केवल्लदीवो पज्जलीअ। अप्पवियप्पो वि आदसाहणाए बाहगो हुंति। भो पण्ण ! णियपण्ण-छेणीदो बहिवियप्प-उवला विहम्म तो तुज्झ पहू फुरिस्ससि।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

वह भी पर-द्रव्य है। शास्त्रों का भी राग छोड़ना पड़ेगा, तभी तू शास्त्र बन सकेगा। तीर्थंकर महावीर स्वामी के राग ने गणधर गौतम स्वामी को केवली होने में प्रतिबंध किया था। प्रारंभ में तो वह राग श्रेष्ठ था, क्योंकि विषयानुराग नहीं, वह धर्मानुराग था, परन्तु स्वरूप में लीनता के लिए सम्पूर्ण रागों से परे होना पड़ा था। अल्प-विकल्प ने भगवान् बाहुबली स्वामी को क्षायिकज्ञान होने में बाधा डाली थी। विकल्प हटा कि कैवल्यदीप प्रज्वलित हो उठा। अल्प से अल्प विकल्प भी आत्मसाधना में बाधक हुआ करते हैं। अतः, भो प्रज्ञ! निज प्रज्ञा की छैनी से बाह्य विकल्पों के उपलों को नष्ट कर तो तेरा प्रभु प्रकट हो जाएगा।।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

होहि भवातीदो

हे हंसप्पा ! संसारम्हि जीवो विचित्तवेसं धारदि जेण भववड्ढी णेव भवहाणी। भवणासवेसो खलु णिग्गंथजिणलिंगं। जिणमुद्दाए विणा आदकल्लाणो असंभवो। आदाणुहवलद्धी जिणमुद्दा-गहणे हि होदि। अहो ! धण्णा ते जीवा, जे असरीरी-करमाणं वेसं पबलपुण्णोदएणं लहेज्जा। एदे विउलधण्णजीवा कुदोचि कदाचि हुंति। जहा कोडि-तारगेसुं धुव्वतारगो एगो एव, सहस्सरुक्खेसु चंदणरुक्खो एगो वे हि होंति, ते वि ण सव्वत्थ, थोवठाणेसु एव; तहेव कोडिमाणवेसु दियंबर-जेणेस्सरी-दिक्खाधारी एगो वे हि दीसंति। ते वि ण सव्वत्थ, कओ हि हवंति। वट्टमाणे भरहखेत्ते जणसंखा-अणुसारेण जेण्हसाहू णगण्णो एव।

''भवातीत बनो''

हे हंसात्मन्! संसार में इस जीव ने अनेक वेष धारण किए जिनके माध्यम से भव-वृद्धि ही हुई है, न कि भव हानि। भव-नाश का एक मात्र वेष निर्ग्रंथ जिनमुद्रा है। जिनमुद्रा के बिना आत्म-कल्याण संभव नहीं है। आत्मानुभव की प्राप्ति जिनमुद्रा के धारण करने पर ही होती है। अहो! धन्य हैं वे जीव, जिन्होंने अशरीरी बनानेवाले वेष को प्रबल पुण्योदय से प्राप्त किया है। ऐसे बड़भागी जीव क्वचित् कदाचित् ही उपलब्ध होते हैं। जैसे करोड़ों तारों में ध्रुवतारा एक ही है, सहस्त्रों वृक्षों में चंदन के वृक्ष एक-दो ही मिलते हैं, वे भी सर्वत्र नहीं, अल्प स्थानों पर, उसी प्रकार करोड़ों की संख्या में स्थित मनुष्यों में दिगंबर जैनेश्वरी दीक्षाधारी जीव एक-दो ही दृष्टिगोचर होते हैं। वे भी सर्वत्र नहीं, कहीं-कहीं ही मिलते हैं। अर्थात् जिनमुद्रा-धारियों की संख्या बहुत अल्प है। वर्तमान में भरतक्षेत्र में ही देखें तो जनसंख्या की दृष्टि के अनुसार जैन साधु नगण्य ही हैं।

अज्ज सयलपिच्छिधारी-संखा पायो सहस्स चत्तारिसयाणि। सच्चं, संजमपरिणामो पबलपुव्वपुण्णोदएण हुंति। असुहकम्मोदए संजमगहणपरिणामो वि ण हुंति, किण्णु तिव्वकम्म-विवागे संजमचागपरिणामो जीवस्स हुंति। सयलावत्थाओ पस्संताओ, हे अप्पा ! तुमं सुरासुर-णरवदि-वंदिदं जिणमुद्दं पावित्तु तं भववड्ढि-वेदीए ण सज्जेज्जा।

णिस्संगजोई आयरियपवर-अमिदगदिसामी-किदस्स जोगसारपाहुडस्स कारिगाओ पस्स, अण्णहा भवादीदठाणे भववड्ढी होस्ससि। आदाहिणंदणं कुण, भवाहिणंदी मा हुव। ते उच्चंति-'साहुविसेसस्स चरिया आगमो णत्थि, साहू आगमाणुसारेण चरियं करेदि।' तं जहा-

सम्पूर्ण पिच्छीधारियों की संख्या आज लगभग 1400 है। सत्य ही है कि संयम धारण के परिणाम भी प्रबल पूर्व पुण्योदय से ही होते हैं। अशुभकर्मोदय में संयम-धारण करने के परिणाम भी नहीं होते हैं, अपितु तीव्र कर्म-विपाक में संयम छोड़ने के परिणाम जीव के होने लगते हैं। सम्पूर्ण अवस्थाओं को देखते हुए, हे आत्मन्! तू सुरासुर, नरपति आदि से वंदित जिनमुद्रा को प्राप्त कर उसे भववृद्धि की वेदी पर नहीं चढ़ा देना।

निःसंग योगी आचार्यप्रवर अमितगति स्वामी कृत 'योगसार-प्राभृत' की कारिकाओं पर दृष्टि करते रहना, अन्यथा भवातीत के स्थान पर भववृद्धि हो जाएगी। आत्मा का अभिनंदन करना, भवाभिनंदी नहीं बन जाना। आचार्य महाराज करुणा करके तत् साधक का स्वरूप लिखते हैं-'साधु-विशेष की चर्या आगम नहीं होती, साधु आगम के अनुसार चर्या करता है।'

भवाभिनंदिनः केचित्, संति संज्ञा वशीकृताः।
कुर्वंतोऽपि परं धर्मं, लोक-पंक्ति कृतादराः।।

चदुविहा सण्णा, आहारभयमेहुणपरिग्गहा चेदि। चदुसु कोवि एग-वे-तियादि-वसीभूदा साहगावत्था अखम्म-अवराहो। सण्णासु विजयो हि साहगदा। कोवि भासदि-अहो ! कसायावेसे होदि; दु वि सामण्णं ?

कसायवासणा-वसीकरणस्स साहणा उज्जमो साहुत्तं। देसव्वदीदो पाणी-इंदियसंजमसाहणा एगदेसरूवे पारंभदि, पुणो किं महव्वदिस्स अवत्था ?

सण्णासु जदि रज्जसि दु तुवं णो भवातीदसाहगो, तुवं भवाहिणंदी एव। तहा लोग संसग्गादु अवगच्छ। जावदु साहगो

वे कहते हैं कि-''कुछ साधक परमधर्म का अनुष्ठान करते हुए भी भवाभिनंदी होते हैं, जो कि संज्ञाओं के वशीभूत हैं और लोक पंक्ति में आदर किए रहते हैं।''

आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञाएँ हैं। इन चारों में कोई एक, दो, तीन आदि के वशीभूत साधक की अवस्था में होना अक्षम्य अपराध है। संज्ञाओं पर विजय प्राप्त करना ही तो साधक बनना है। यदि कोई कहे कि अहो! क्या करूँ, कषायावेश में ऐसा हो गया, तो साधुता क्या?

साधु का अर्थ ही है कि-कषायों तथा वासनाओं को वश में करने की साधना करना, पुरुषार्थ करना। देशव्रती/प्रतिमा-धारण से भी प्राणी और इन्द्रियसंयम की साधना एकदेश रूप से प्रारंभ हो जाती है, फिर महाव्रती का तो कहना ही क्या?

संज्ञाओं में यदि लिप्त होता है, तो समझ लेना तू भवातीत साधक नहीं, भवाभिनंदी ही है। साथ ही लोकसंपर्क से परे रहना। साधक जितना

लोगाचारे गच्छदि, तावदु लोगुत्तराचारादु अवगच्छदि। ''अप्पासरणं परमप्पासरणं'' इदं सुत्तं वच्चदे। केवलो णायगो अहिणायगो दीसंति। हे चेयण्ण ! विउलधण्णो होदूणं जिय, विउलाधण्णो ण होहि।

पुव्वभवे अज्जिदे कम्मेहिं देह-विज्जा-णाण-गुरु-सिस्सादिसंजोगो पसज्जदि। तच्चदो मज्झ संजोगे जो कोवि लोयमो, तम्हि अणुमित्तं पि मज्झ णत्थि। गह-कुल-परिवारा सव्वे कम्मस्स उवहारा। तम्हा जावं कम्मट्ठिदी समग्गेहिदि, तदेव अम्ह समीवे किंचिवि कम्मं ण होहिमो। तुमं वावारसेवादीहिं धणं अज्जित्तु गहं णिम्माणसि, किण्णु तं तुज्झ समीवे ण वसिस्ससि। णियधुवादा हि सव्वदा जहावं वसदि।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

लोकोत्तराचार में जाता है, उतना ही लोकोत्तराचार से दूर हो जाता है। ''आत्मा की शरण ही परमात्मा की शरण है'' यह सूत्र समाप्त हो जाता है। एकमात्र नेता-अभिनेता दिखना प्रारंभ हो जाते हैं। हे चैतन्य! बडभागी बनकर ही जीना, बड-अभागी नहीं हो जाना।

पूर्व जन्म में कमाए कर्म के कारण शरीर, कुल, विद्या, विद्वत्ता, गुरु, शिष्य आदि का संयोग प्राप्त होता है। वास्तव में अभी हमारे संयोग/साथ में जो भी दिखलाई पड़ रहा है उसमें एक अणु मात्र भी हमारा नहीं है। यह मकान, कुटुम्ब, परिवार आदि सब कर्म का दिया हुआ है। इसलिए जब तक कर्म की स्थिति और फल देने की शक्ति घट जाएगी अथवा कर्म की स्थिति पूर्ण हो जाएगी, उसी समय हमारे पास कुछ नहीं रहेगा। तूने व्यापार, सेवादि से अर्थ कमाकर घर बनाया है, लेकिन वह तेरे पास रहने वाला नहीं। सदाकाल ज्यों का त्यों बना रहनेवाला नित्य ध्रुव तो आत्मा ही है।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

गुरुं अंके समाहेज्जा

हे विण्णप्पा ! जोगे विणासे णत्थि आदधम्मो। अयं महा-अधम्मो। कित्तिपूया-भावणा साहगस्स साहणं विणासत्थं कुढारो। ते सगपूयाए धम्मधम्मप्पा ण दीसंते।

अहो ! जं वीदरागमुणिमुद्दं णिरिक्खिय पसू वि पसुत्तं मुंचदि, आदगुणं (सम्मत्तं) फुडुदि; वच्छल्लणीरं जेसिं णयणेसुं णीसरदि ते अरहंत-मुद्दाधारी-णिग्गंथगुरू। गुरुगोदो ण छुट्टदि। सव्वेण सह संबंधो वच्चंति, किण्णु जत्थ गुरुसंबंधो हि वच्चदि तत्थ अण्णसंबंधो ण कज्जयारी।

जो गुरुचरणेसुं ण पत्तेदि ठाणं, सो परिपडेदि। हे पहु ! पावणपवित्तगुरुचरणाणि मे हिदए विज्जमाणं कर।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

''गुरु-गोद को प्राप्त कर''

हे विज्ञात्मन्! आत्मधर्म जोड़ने-तोड़ने में नहीं है। यह तो महा-अधर्म है। ख्याति-पूजा की भावना साधक की साधना को नष्ट करने के लिए कुठार है। स्वपूजा के पीछे धर्म और धर्मात्मा उसे दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

अहो! जिस वीतराग मुनि-मुद्रा को निहार कर पशु भी पशुत्व को छोड़ देता है, आत्मगुण (सम्यक्त्व) प्रकट हो जाता है, वात्सल्य का नीर जिनके नयनों में झरता है, वे अरहंत-मुद्राधारी निर्ग्रंथ गुरु ही सच्चे गुरु हैं। परन्तु गुरु की गोद नहीं छूट सकती। सभी के साथ संबंध बिगड़ते हैं, परन्तु जहाँ गुरु का संबंध ही बिगड़ गया वहाँ अन्य संबंध कोई कार्यकारी नहीं होते।

गुरुचरणों में स्थान जिसे नहीं मिला, वह पतित हो जाता है। हे प्रभो! पावन पवित्र गुरु-चरणों को मेरे हृदय में विराजमान कर।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

भोगवेदीए देहं बलिदाणं कुण

हे परमाणंदसहावी-अप्पा ! अखंड-णाणाणंदसरूववेदणं कुण, जो णिहिलाणंदादु पुहं, णियुप्पण्णं, परावलंबणरहिदं। पराहीणत्तेण लद्धपदत्थाणि कदावि सच्चसुहाणुहवं ण करावंते। परदव्वम्हि तह आदभावो ण उप्पज्जेदि, जो णियवत्थुं पडि होदि। लोए दिस्सदे अण्णेण गहणसामग्गिं पडि सो रागभावो ण होदि जो सगवत्थुं पडि होदि। तुमं विचिंतहि, इमस्स इंदियसुहस्स जावंति केइ पदत्थाणि गेण्हसि, ताणि सव्वाणि तुमे किं पराहीणाणि ण दीससे ? ओ हो ! जो जीवो कदावि अण्णस्स दारे ण जादो, सो जीवो वि इंदिय-भोगेहिं पर-दारे, परचरणेसुं पडदि। लोए जे सुहड-

''अब छोड़ भोग-वेदी पर नर-देह का बलिदान''

हे परमानंद स्वभावी आत्मन्! अखण्ड ज्ञानानंद-स्वरूप का वेदन कर, जो सम्पूर्ण आनंदों से परे है, नियोत्पन्न है, परावलम्बन से रहित है। पराधीनता से प्राप्त पदार्थ कभी भी सत्य सुखानुभव नहीं करा सकते। पर-द्रव्य में वैसा आत्मभाव उत्पन्न नहीं हो सकता, जो निज-वस्तु के प्रति होता है। लोक में भी देखा जाता है कि अन्य की ग्रहण की हुई सामग्री के प्रति वह रागभाव नहीं हो पाता, जो स्वयं की वस्तु पर होती है। अब तू ही विचार कर कि इस इन्द्रियसुख के हेतु जितने पदार्थों को ग्रहण कर रहा है, वे सब क्या तुझे पराधीन नहीं दिखते? ओ हो! जो व्यक्ति कभी किसी के द्वारे नहीं गया, वह व्यक्ति भी इन्द्रिय-भोगों के पीछे पर के द्वारे ही नहीं, चरणों में गिरते पड़ते दिखते हैं। लोक में जिन्हें सुभट, वीरयोद्धा, रणबली कहा जाता है, ऐसे पुरुष भी बलहीन हो जाते हैं, एक अबला

जुद्धवीर-रणबली भासदे ते पुरिसा वि अबलाए केलिहेदुं बलहीणा हुंति। जे अणेयसुहडा समरंगणे अवणिगोदम्हि सयावीअ, ते अज्ज वामागोदम्हि सयिदूणं बलहीणा हुंति। जे अरी भाससे, ते ण अरी, वत्थुदो अरी णारी। णारी रणे पवेसेण विणा तुज्झ सत्तिविणासो करावदि। सिद्धालय-गममाण-अप्पाणं णिगोदे आगलदि। जेसुं चरणेसुं विस्सो वंददि, इमे विस्सवंदणीय-समणा वि खणम्हि अवंदणीया कुणदि। विउल-बलवंता अबलासत्ती, पुणो वि अबला उवदिस्सदि। हे बलवंतो ! इत्थिं अबला सत्तिहीणत्तेण मा भास। भारह-रामायणादिगा तीहिं णिम्मिदा। ता अणंतसत्तिसंपण्ण- पुरिसप्पं मोक्ख-उज्जमादो पुहकरणे समत्थवंता तम्हा ता अबला।

हे पण्ण ! किंचि विलज्ज, तुमं एत्तो णिय-सूरत्तं धंसिदूण णारीजादीए सीसदाए लज्जा णो आवसि, जेणं तव-चाग-सच्च-

के पीछे केलि हेतु। जिन्होंने अनेक सुभटों को समरांगण में भूमि की गोद में सुलाया था, वे आज नारी की गोद में सोकर बलहीन हो गए। जिन्हें अरि कहता है, वे अरि नहीं हैं, अरि यथार्थ में नारी है। नारी रण में प्रवेश किए बिना तेरी शक्ति का नाश करा देती है। विश्व जिनके चरणों में वंदना करता है, ऐसे विश्व-वंदनीय साधु-संतों को भी एक क्षण में अवंदनीय बना देती है। विपुलबलवान् है नारी-शक्ति, फिर भी अबला कहलाती है। हे बलवानो! स्त्री को अबला इसलिए नहीं कहना कि उनमें शक्ति नहीं होती। ये महाभारत, रामायण उन्हीं से रचे गए हैं। उन्हें अबल इसलिए कहते हैं कि वे अनंत-शक्ति-संपन्न पुरुषात्मा को मोक्ष-पुरुषार्थ से दूर करा देने में समर्थ होती हैं।

हे प्रज्ञ! जरा लज्जा तो कर, तुझे इस प्रकार से अपनी शूरता नष्ट करके नारी-जाति का चेला बनने में शर्म नहीं आती, जिसके पीछे तप,

सोच-कुल- जादि-धम्मा वोस्सरेसि ? तुमं कोवि णारीमित्तं दोसं मा जच्छ। णिय-भोगाकंखं उवादाण-हीणत्तं च गेज्झ, लोगलज्जं खयित्तु इत्थिसेवाए रज्जित्तु अणग्घ-णरदेहं विसयाहिलासाए बलिपीढे मा तज्ज। तुमं जीवे पसुत्तपरिणदिं हि गोण्हसि। पसवो जम्मंति, अण्णस्स सेवित्तु इंदियभोगं भोगित्तु मारंति। एवंचेव णारीपिय-भोग-अहिलासी-दसा। ते हुंति पुरिसा, जे उत्तम- आदसुहं भोगित्तु संजयमसाहणं किच्चा परमरमणी-मुत्तिवल्लहा- कंतो होदूणं सिद्धालए णिविसित्तु सिद्धा हुंति। पहु !जग्ग, णियपरमप्पं पस्स।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

त्याग, सत्य, शौच, कुल, जाति, धर्म सब को न्योछावर कर बैठा? तू ये ध्यान रखना कि किसी भी नारी मात्र को दोष ही नहीं देता। अपनी भोगाकांक्षा और उपादान हीनता को स्वीकार कर। लोक-लाज को खोकर स्त्री सेवा में लगकर अमूल्य नर-देह को विषयाभिलाषा की बलिपीठ पर बलिदान मत कर। देख, तूने जीवन में क्या किया है? पशुत्व-परिणति को ही तो स्वीकारा है। पशु जन्म लेते हैं, दूसरे की सेवाकार्य में काम आकर इन्द्रिय-भोग भोगकर मरण को वरण करते हैं। बस, नारी-प्रेमी भोगाभिलाषी की यही दशा है। पुरुष तो वे होते हैं जो श्रेष्ठ आत्म-सुख के भोक्ता होकर संयम-साधना करके परमरमणी मुक्ति-वल्लभा के कांत बनकर सिद्धालय में विराजमान होकर सिद्ध-भगवान् कहलाते हैं। चेत प्रभो! अपने भगवान् को देख।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

चित्त-अथिरवित्ति त्थि आद-पहिग-बाहा

हे अप्पा ! जत्थ तुमे ण गच्छेह तत्थ झत्ति गच्छसि, जत्थ गच्छिदो तत्थ भवे भवे णो गच्छसि। किं तुमे तव्विसय-चिंता णत्थि? सामण्णपहिगो जदा णियपहे चलदि तदा सो विचिंतदि कदा हं सलक्खभूदट्ठाणं पावेमो। मग्गस्स विसमदाणं विसमदाओ पहरिसेण सहंतेण चलदि। तं सग-अहिपेदट्ठाणं पडि अणुरागो तम्हा सो णवि पडिणिवत्तदि। कदोचि मग्गे कह खुट्टदि, हिंडदि दु सहसा णेह-वच्छल्लेण मग्ग-णादादो संपुच्छदि, बंधु ! अयं मग्गो कत्थ गच्छदि? णियमग्गादो हिंडामि हं। तुमं अम्ह मग्गं दंस। सो भव्ववरो करुणाए झत्ति मग्गणिद्देसणं कुणदि-हे जीव ! तुमं अमुगपंथेण गच्छेहिसि मग्गिं पाविस्ससि। सो पहिगो सहसा

''चित्त की चंचलवृत्ति आत्मपथिक की बाधा''

हे आत्मन्! तू देख कि जहाँ तुझे नहीं जाना चाहिए वहाँ तू शीघ्र पहुँच जाता है, जहाँ पहुचना चाहिए वहाँ तू भव-भव तक नहीं पहुँच पाया। क्या तुझे उस विषय की चिंता नहीं है? एक सामान्य पथिक जब अपने पथ पर चलता है तब वह यही विचारता है कि कब मैं अपने लक्ष्यभूत स्थान को प्राप्त कर लूँ। मार्ग की विषमताओं की विषमताओं को प्रसन्नता के साथ सहन करता हुआ कदम पर कदम रखते हुए चला जाता है। वह पीछे नहीं हटता, क्योंकि उसे अपने अभीष्ट स्थान के प्रति अनुराग है। यदि कदाचित् मार्ग में कहीं भूल होती है, भटक भी जाता है, तो शीघ्र ही मार्ग में ज्ञाता से पृच्छना कर लेता है स्नेह वात्सल्य के साथ कि, भैया! यह मार्ग कहाँ जाता है? मैं अपने मार्ग से भटक गया हूँ। आप मुझे मार्ग बताइये। वह भव्यवर करुणापूर्वक शीघ्र मार्ग-निर्देशन करता है-हे जीव! आप अमुक रास्ते से चले तो मार्गी को प्राप्त कर लोगे। वह पथिक शीघ्र अपने

णियमग्गे चलदि। कइयाइं पंथे ठिदे मग्गदस्सगा पस्सिदूण वि जीवो णियमग्गे अविरामगमणं कुणदि। भो पण्ण ! तुमे णिय-मोक्खमग्गे चलंते बहुसमयो गलसि। किं तुमे चिंता णत्थि कियत्तादु समयादु हिंडसि? जदा कदाचि वि तुमं मग्गादु हिंडहि, दु महामग्ग-णिद्देसग-णिग्गंथवीदरागी-दियंबरायरियचरणेसु संपुच्छ, हे भगवं ! णियमग्गादु हिंडामि हं, अम्हि देमो णिद्देसणं। ते किवासिंधू सहसा वच्छल्लेणं तुज्झं करं धरित्तु मोक्खमग्गं दंसिस्संति। तुमं मा विचिंत। एवं जिणवाणीए अज्झित्ता णियमग्गं अभिगच्छ। चित्तस्स अथिरवित्ती आदपहिगं भवभवगत्ते अच्छोडदि। किं तुमं गत्ते पडंते उवजुंजदि किं णिग्गमणस्स मणो णो हवसि?

अहो अच्छेरं ! असुहसक्कार-अवली बहुविसाला, जा समत्ता ण होदि। वीदरागत्तं पडि पदा वड्ढावेज्जा। सरागदलदले

मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर देता है। कभी-कभी पथ पर लगे मार्गदर्शकों को देखकर भी जीव निजमार्ग पर अविराम गमन करता है। भो प्रज्ञ! तुझे निज मोक्षमार्ग पर चलते बहुत समय व्यतीत हो गया। क्या तुझे चिंता नहीं है कि कब से भटक रहा है? जब कभी तू मार्ग से भटकने लगे, तो महामार्ग-निर्देशक निर्ग्रंथ वीतरागी दिगंबराचार्य के चरणों में पहुँच कर पृच्छना कर लेना-भगवन्! मुझे निर्देशित करें, मैं अपने मार्ग से भटक गया हूँ। वे कृपा-सिंधु शीघ्र तुझे हाथ पकड़कर वात्सल्य के साथ मोक्षमार्ग बता देंगे। तू चिंता मत कर। साथ ही माँ जिनवाणी में पढ़कर निजमार्ग को प्राप्त कर लो। यह चित्त की चंचल-वृत्ति इस आत्मपथिक को भव-भव के गर्त में पटक रही है। क्या तुझे गर्त में पड़े-पड़े अच्छा लगता है? क्या निकलने का मन नहीं होता?

अहो! आश्चर्य है। अशुभ संस्कारों की कतार बहुत लम्बी है। समाप्त होने को ही नहीं होती है। वीतरागता की ओर कदम बढ़ाने की

केवच्चिरं लिप्पेहिसि? भेदविज्ञाणस्स णिम्मलसलिलेण पावपंकं पडिभंसेहि।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

आवश्यकता है। सरागता के दल-दल में कब तक फंसा रहेगा? भेद-विज्ञान के निर्मल सलिल से पाप-पंक को समाप्त कर।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

परिग्रह ही संसार–

ग्रन्थानुबन्धी संसारस्तेनैव न परिक्षयी।
रक्तेन दूषितं वस्त्रं न हि रक्तेन शुध्यति।।

जिस प्रकार खून से मलिन हुआ वस्त्र खून से ही साफ नहीं हो सकता; उसी प्रकार राग-द्वेषादि परिग्रहों से बढ़नेवाला संसार इन्हीं परिग्रहों को ग्रहण करने से कैसे नष्ट हो सकता है?

बहुसंख्य-कम्मबंधादु रक्खदि विवेगणाणं

हे पण्णप्पा ! संसारे मूढजीवा अण्णाणवसा विहा कम्मबंधं पसज्जंति। जावदु पावकम्मं सो ण करेदि तावदु पाकम्मस्स बंधं करेदि।सच्चं, सग्गुरुवाणी हिदए ण पविस्सीअ।णिम्मल-विवेगणाणं जग्गिस्सदि, दु जीवो कम्मस्स बहुसंखारूव-बंधादो फेडिस्सदि। धण्णा ते जीवा, जे गुरुवाणिं लभित्तु पावंति णिम्ममत्त-भावं। ममत्तं हि बंधस्स मुक्खकारणं। णिम्ममत्तभावादो विओजदि कम्मबंधं। सहजदिट्ठीए अवलोगणो एवं रागदिट्ठीए अवलोगणो, इमम्हि अवलोगणकिरिया दोसु, ताएव दोसु बहु-भिण्णत्तं। इत्थिं पुत्तो मादु-दिट्ठीए, पिदू तणया-दिट्ठीए तहा पदी भोग्गादिट्ठीए पस्सदि। एगम्हि पदत्थम्हि दिट्ठिभेदादो कम्मबंधे भिण्णत्तं

''विवेक-ज्ञान बचाता है बहुसंख्य कर्मबंध से''

हे प्रज्ञात्मन्! संसार में भोले प्राणी अज्ञानतावश व्यर्थ में कर्म-बंध को प्राप्त हो रहे हैं। जितना पाप-कर्म वह कर नहीं पाता, उतना पाप-कर्म का बंध कर लेता है। सद्गुरु की वाणी हृदय में प्रवेश नहीं हुई, सत्यता है। निर्मल विवेक-ज्ञान जागृत हो जाए, तो जीव कर्म के बहु-संख्या-रूप बंध से बच जाए। वे जीव धन्य हैं, जिन्होंने गुरु-वाणी को प्राप्त करके निर्ममत्व-भाव को प्राप्त कर लिया। ममत्व भाव ही बंध का मुख्य प्रत्यय/कारण है। निर्ममत्व भावों से कर्म-बंध छूटता है। सहज-दृष्टि से देखना और राग-दृष्टि से देखना इसमें 'देखना' क्रिया दोनों में है, परन्तु दोनों में बहुत अंतर है। एक स्त्री को पुत्र 'माँ' की दृष्टि से देखता है, पिता 'पुत्री' की दृष्टि से और पति 'भोग्या' की दृष्टि से। एक ही पदार्थ में दृष्टि-भेद होने से कर्मबंध में भिन्नता आयी है। व्यक्ति/पदार्थ को जैसी दृष्टि से देखते हैं, भाव भी वैसे होते हैं शरीर की अवस्था भी वैसी ही

आगमदि। जह दिट्ठीए जीवा पदत्थं पस्संति, तेहव भावो हवंति। एवं देहावस्था वि तहेव होदि। जदि जीवस्स परिणामो होदि विसुद्धो दु तं। इंदियविगारो ण पीडदि। जत्थ मणो अथिरो, तत्थेव इंदियाणि सहसा हु सग-सग-विसए वट्टंति। पुण ठिदिकरणं दुग्गमं होदि। वत्थुदो इंदियावत्था णिव्वेगभुजंगो व्व। किंचि कोवि पीलदि, दु सो कोविदूणं जीवं डंसदि। तहेव होदि इंदियावत्था। किंचि मणे अथिरो दु इंदिय-भुजंगा फुक्कंति तहा ते विणासंति। हे अप्पा ! तुमं विवेगणाणस्स णागदमण-ओसहिं समेण सह धारित्तु मोक्खमग्गे गच्छ, जेणं भोगभुजंगा तुज्झ उवरिं वासणा-विसं ण छुट्टंति एवं तुम कुसलत्तेण सिवत्तजत्तं करेहि।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

होने लगती है। यदि व्यक्ति के परिणाम विशुद्ध रहे, तो उसे इन्द्रिय-विकार नहीं सता सकते। जहाँ मन चंचल हुआ, वहीं इन्द्रियाँ शीघ्र ही अपने-अपने विषय मं प्रवर्तन करने लगती हैं। फिर सम्भलना बहुत कठिन हो जाता है। इन्द्रियों की दशा तो वास्तव में शांत भुंजग के समान है। यदि जरासा किसी ने छेड़ा कि वह क्रोधित होकर व्यक्ति को डस लेता है। उसी प्रकार इन्द्रियों की अवस्था होती है। जरा मन अस्थिर हुआ कि इन्द्रिय-भुजंगों की फुस्कार प्रारम्भ हो जाती है और वे नष्ट कर देते हैं। हे आत्मन्! तू विवेक ज्ञान की नाग-दमन औषधि को अपने साथ लेकर मोक्षमार्ग पर चलता चल, जिससे भोग-भुजंग तेरे ऊपर वासनाओं का विष न छोड़ पाएँ और तू कुशलता से शिवत्व की यात्रा कर सके।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

अणिट्ठ-हेदु त्थि सिरि-इत्थीओ

हे पण्णप्पा ! जीवे हुव गुणगाही। संसारे अणंतपदत्थाणि। सव्वाणि गुणदोसपिंडाणि। सव्वहा सुद्धो पुग्गलदव्वे परमाणू एवं जीवदव्वे सिद्धो। अवसेसजीव-पुग्गला गुणदोसजुत्ता। अहुणा तुमं णियदिट्ठिं णिम्मलं किच्चा पस्स वत्थुदो किं गिज्झो गुणो वा दोसो ? किं कल्लाणमग्गो। केणं आदविगासो, गुणेहिं व दोसेहिं? इदं सामण्ण-जीवो वि दंसेज्जा, गुणा हि उवादेया, कदावि अवगुणा णो उवादेया, णो होसी णेव होस्संति, ते हेया एव। सम्मग्गलद्धी दोसेसुं णत्थि, गुणेसु एव विवेगणाणेण कर णिण्णयं तुह किं करिज्जे ? दोसगहणं वा गुणगहणं ?अहो !गुणं गेज्झ मा पस्स।सच्चं, को लोहो

''साधक की बुराई के प्रबल हेतु-श्री और स्त्री''

हे प्रज्ञात्मन्! जीवन में गुण-ग्राही बनना। संसार में अनंत पदार्थ हैं। सभी गुण व दोषों के पिण्ड हैं। सर्वथा शुद्ध तो मात्र पुद्गल-द्रव्य में परमाणु है तथा जीव द्रव्य में सिद्ध भगवान् हैं। अवशेष जीव व पुद्गल गुण व दोषों से युक्त हैं। अब तू निज दृष्टि को निर्मल करके देख कि यथार्थ में ग्राह्य क्या है, गुण या दोष? कल्याण मार्ग क्या है? आत्मविकास किससे होगा, गुणों से या दोषों से? यह बात तो सामान्य व्यक्ति भी बतला सकता है कि गुण ही उपादेय हैं, अवगुण कभी भी उपादेय न हुए न हैं, न होंगे। वे तो हेय ही हैं। सन्मार्ग की प्राप्ति दोषों में नहीं, गुणों में है। अतः विवेकज्ञान से निर्णय कर कि तुझे क्या करना चाहिए? दोषों का ग्रहण या गुणों का ग्रहण? अहो! गुण ग्रहण कर, दोषों पर दृष्टिपात नहीं कर। सत्य है, लाभ भी क्या होगा? अवगुणों के संकल्प-विकल्प को छोड़कर पूर्वकाल में

होहिदि? अवगुणाणं संकप्पवियप्पं च मुंचिदूणं पुव्वकाले दिग्गयपुरिसा हवीअ, किण्णु ते वि किंचि-किंचि तुडिजुत्ता आसी। अहो! कम्म-वेचित्तं, जस्स मऊरस्स पंखा णारायण-किण्हो सग-मुउडो गेज्झिदो, जेण णिग्गंथ-वीतरागी-दियंबरसमणाणं परिचयो होदि, तस्स मिदुपंख - धारग - मऊरस्स पदा सयलखगेसु असुंदरं हुंति। अहो! मऊरहिदयो, पण्णगं वि भुंजदि। णियावलोयणस्स पद्धद्धिं उवकप्प। णियपरिणामेसु वियारं मा अवहर।लोग-मज्जादं पस्संतं आगम-मज्जादं मा संहार।जिणागमे सा एव लोगमज्जादं गेज्झदि, जेणं णो आगमसिद्धंत-सम्मत्तहाणी। लोगचरिया लोग-मज्जादा णत्थि सम्मत्तहेदू। आगमविहिदविही कल्लाणमग्गहेदू। सविवेगेण हि कर णिण्णयं, अण्णहा णिण्णयं मा कर।

भी ऐसे पुरुष हुए हैं, जो दिग्गज कहलाते थे, परन्तु वे भी किसी-न-किसी कमी से युक्त देखे गए। अहो! क्या कर्म-वैचित्र्य है! जिस मयूर के पंखों को नारायण कृष्ण ने अपने शीश का मुकुट बनाया, जिससे निर्ग्रंथ वीतरागी दिगंबर यतीश्वर की पहिचान होती है, उन कोमल/मृदु पंखों को धारण करने वाले मयूर के पैर देखें, सब पक्षियों में असुंदर लगते हैं। अहो! मयूर का हृदय तो देखो कि सर्प को भी वह खा जाता है। अतः अपने देखने के तरीके को व्यवस्थित करो। अपने परिणामों में विकार नहीं लाना। इतना ध्यान रखना कि लोक-मर्यादा को देखते हुए आगम-मर्यादा को समाप्त नहीं कर देना। वही लोकमर्यादा जिनागम में स्वीकार की गई है, जिससे आगम, सिद्धांत, सम्यक्त्व की हानि न हो। लोकचर्या लोकमर्यादा सम्यक्त्व की हेतु नहीं है। आगम-विहित विधि कल्याणमार्ग की हेतु है। स्वविवेक-पूर्वक ही निर्णय लेना, कोई अन्यथा निर्णय नहीं कर बैठना।

अज्ज एगा उत्तमा चरिया सुणेमि। इदं पत्तेगणिग्गंथ-हिदयकण्णे उवविसिज्ज।पुव्वायरिया पदे पदे उवदिस्संति 'साहगवग्गं आदपहावणा-धम्मपहावणा-रक्खणत्थं विसमलिंगि-संसग्गं ण करदु'। एवं पंचमपावदु परिग्गहादु विहड। भोजउरे विज्जदे आयरिय-विज्जासायरो अज्ज चरिचाए उत्तो-'हे विसुद्धसायर! सिरि-इत्थी साहगस्स अणिट्ठस्स दो-पबलहेदू। जत्थ साहुसमूहे सिरि-इत्थि-पवेसो होदि, तत्तो दु साहुवग्ग-अववादो पारंभदि।' सच्चं, जिणमग्गं पसत्थट्ठं, आदसाहगं दोदु कोवि अहिप्पाओ ण होदव्वो।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

आज एक अच्छी बात सुनने को मिली। यह बात प्रत्येक निर्ग्रंथ के हृदय-कर्ण में प्रवेश करना चाहिए। हमारे पूर्वाचार्यों ने बार-बार जोर देकर कथन किया है कि साधक वर्ग को आत्म-प्रभावना, धर्म-प्रभावना की रक्षा करना है तो विषमलिंगी का सम्पर्क न करे। साथ ही अंतिम पाप अर्थात् परिग्रह से दूर रहें। भोजपुर में विराजमान आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने आज चर्चा के माध्यम से बतलाया कि, 'विशुद्धसागर! साधक की बुराई के दो ही प्रबल हेतु हैं-श्री और स्त्री। जहाँ साधु-समाज में इन दो का प्रवेश हो जाता है, वहाँ से ही साधुवर्ग का अपवाद प्रारम्भ हो जाता है।' सत्य है, आत्म-साधक के लिए दोनों से ही कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिए, जिनमार्ग को प्रशस्त रखना है, तो।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

भववेदणं भुल्लसि कसायोदएणं

हे हंसप्पा ! आदधम्मसाहणा वाणीए सह सहावे वि आवेज्जा। जेणदंसण-समणसक्किदि-परिचयो आडंबरेहिं णत्थि, लोगसहासु भासणेहिं णत्थि, किंदु आदसाहणा-अज्झप्पचरिया-सियवाय-अणेगंत-अहिंसा-सच्च-अचोरिय-बंभचेर-अपरिग्गह-समो णिम्मलसिद्धंताणुसार-गममाण-महापुरिसेहिं एव होदि तहा होहिदि। अज्ज वि दिस्सदे एवं अणुहवेमि हं णिद्दोससंजदं पडि जा सहजसड्ढाभत्ती बाल-गोवाल-जणमाणसाणं संचिदाणं, सा सड्ढा-भत्ती आडंबरेहिं णत्थि। कोउगत्थं सो ण संचिदो। सड्ढावंता समूहं पस्सित्तु ण आवंति। ते चारित्त-चाग-तवस्सा-साहणा-आदाराहणाओ पस्सित्तु आवंति। सम्मसावगो साहगस्स भत्तो होदि, किंदु सो ण होदि अंधभत्तो। वत्थुदो, वयं जं सड्ढेयदिट्ठीए

''कषायोदय से भूल रहा भव-वेदना को''

हे हंसात्मन्! आत्मधर्म की साधना वाणी मात्र में नहीं होनी चाहिए, स्वभाव में भी आनी चाहिए। जैन-दर्शन, श्रमण-संस्कृति की पहचान आडम्बरों से नहीं, लोक सभाओं में भाषणों से नहीं, अपितु आत्म-साधना, अध्यात्मचर्या, स्याद्वाद, अनेकांत, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह जैसे निर्मल सिद्धांतों के अनुसार चलनेवाले महापुरुषों के माध्यम से होती है तथा होगी, हो रही है। आज भी देखा जाता है और मैं अनुभव कर रहा हूँ कि निर्दोष संयमी के प्रति जो सहज श्रद्धाभक्ति बाल-गोपाल व जनमानस की उमड़ी है, वह आडंबरों से नहीं। वह मनोरंजन के उद्देश्य से एकत्रित नहीं हुई है। श्रद्धावान् भीड़ को देखकर ही आते हैं। सच्चा श्रावक तो साधक का भक्त होता है, पर अंध भक्त वह नहीं होता। वस्तुतः जिसे श्रद्धेय की दृष्टि से देखने जा रहे हैं

पस्सेमो, सो मज्झ सड्ढापत्तं पि अत्थि वा णत्थि, इमस्स झाणं कुज्जा। सव्वे सव्वा जच्छदे, किंदु सड्ढाजुत्तहिदयपत्तं पत्तेगजीवं ण समप्पिदे। सड्ढेयं पावित्तु जो आणंदो फुरदि तादो अहिगपीडा तदा होदि जदा मज्झ णेत्ताणि सड्ढेयस्स सड्ढाणं ण कुज्जा। सा वेदणा साणुहवगम्मा केवली-गम्मा। परमप्पणा पत्थवेज्जा, हे पहु ! मे सड्ढेयो हिमगिरीसमो, मे सड्ढा सुमेरु व्व होमु। अहो अच्छेरं ! कसायीजीवा कसायावेसे भववेदणं पि विसरंति, णिहत्ति-णिकाचिद-कम्मबंधसाहणभूदं, देवगुरुधम्मं मइलत्तस्स दुरहिसंधिं गाहंति किण्णु किं णहे रयं खवमाणाणं उवरिं रयो ण पडदि? विवेगीजीवा विचिंतेज्जा, उलूगं आदिच्चपगासो णो रुच्चदि दु किं आदिच्चपगासो सव्वेसिं दोसी हुज्जा? तहेव खीणपुण्णवंतेण

वह हमारी श्रद्धा का पात्र भी है या नहीं, इस बात का ध्यान तो रखना ही चाहिए। सब कुछ, सब को दिया जा सकता है, पर श्रद्धा से लवजीन हृदय-पात्र प्रत्येक व्यक्ति को नहीं सौंपा जा सकता, क्योंकि श्रद्धेय को प्राप्त करके जो आनंद प्रकट होता है उससे कई गुना पीड़ा तब होती है जब हमारी ही आँख श्रद्धेय का श्रद्धान नहीं कर पाती। वह वेदन, स्वानुभव केवलीगम्य हो जाता है। परमात्मा से एक प्रार्थना अवश्य करें कि, प्रभो! मेरे श्रद्धेय हिमगिरि से हों, मेरी श्रद्धा सुमेरु सी हो। अहो! आश्चर्य, कषायी जीव की परिणति को, जो कषायावेश में भव-वेदना को भी भूल जाते हैं। निधत्ति व निकाचित कर्म-बंध के साधन देव, धर्म, गुरु को धूमिल करने का षड़यन्त्र रचाते हैं, परन्तु क्या नभ में धूल फेंकनेवाले के ऊपर रज नहीं गिरती? विवेकी जीवों को विचारना चाहिए। एक उल्लू जाति के पक्षी को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता, तो क्या सूर्य-प्रकाश सबके लिए दोषी हो गया? उसी प्रकार क्षीण पुण्यवाले जीव के द्वारा

पंचपरमेट्ठीसु कोवि परमेट्ठि- अवण्णवादं कीरदे दु तं सुणिदूण णवि उव्वादेज्जा। भूदत्थतच्चं वियाणेज्जा। कसायावेसे जीवा मज्जादा-पुरिसोत्तम-रामस्स अववादं किदा पुणो जणसामण्णस्स को होहिदि? अववादम्हि पि महापुरिसा संतसहावे अभिरमंति, णिद्दोसम्हि वि णिद्दोसत्तं णवि पभासंति, ता एव कम्मादेयं मण्णित्तु आदसाहणाए अभिरमंति। कम्मवेचित्तं भासित्तु णियभावा संभालंति। धण्णा ते धीरवीर- आदालोयगा जे अण्णं दोसं ण जच्छंति, णियकम्माणि हि दोसं जच्छंति। परदोसादु किं होहिदि? णीचगोदासवबंधा होहिदि। णियासुह-कम्मुदयो ण होदि दु अण्णो अववादे णिमित्तं ण होदि। सग-जसोकित्ति-उदयो णत्थि दु अण्णो जस-णिमित्तिं पि ण होदि। एवंचेव सच्चं अकट्टसिद्धंतो, अवसेसा णिस्सारचरिया संकप्पवियप्प-जणणी वा। पुणो वि साहगं

पंचपरमेष्ठी में से किसी भी परमेष्ठी का अवर्णवाद किया जाता है, तो उसे सुनकर उद्वेलित होने की आवश्यकता नहीं है। यथार्थ तत्त्व को समझने की आवश्यकता है। कषायावेश में लोगों ने राम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम का अपवाद किया, तो फिर सामान्य जन का क्या होगा? अपवाद के होने पर भी महान्-पुरुष शांत-स्वभाव में लीन रहते हैं, निर्दोष होने पर भी निर्दोषपने का प्रचार नहीं करते, अपितु कर्मोदय मानकर आत्म-साधना में लीन रहते हैं। यही कहकर निज भावों को संभालते हैं कि यही तो कर्म का वैचित्र्य है। धन्य हो उन धीर-वीर आत्मालोचकों को, जो अन्य को दोष न देकर निज कर्म को ही दोष देते हैं। पर को दोष देने से होगा भी क्या? नीच गोत्र का ही आस्रव-बंध होगा। यदि निज अशुभ कर्मोदय न होता, तो अन्य अपवाद में निमित्त नहीं बन सकता। यही सत्य है, अकाट्य सिद्धान्त है, बाकी सब व्यर्थ की चर्चाएँ हैं, संकल्प-विकल्पों की

णियचरिचाए जागरेज्जा। खलु जिणवेसो जेणत्तपहावणाए मुक्खहेदू। जदि सोचेव अववादं पत्तं, दु पुणो किं अवसेसो?

भो चेयण्ण! पहावणं ण कुव्वसे, दु अपहावणं सिविणे वि ण कुण।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

जननी हैं। अतः फिर भी साधक को निज चर्या में सावधानी रखने की आवश्यकता है। एकमात्र जिन-वेष ही जैनत्व की प्रभावना का मुख्य हेतु है। यदि वही अपवाद को प्राप्त हो गया, तो फिर बचा ही क्या?

भो चैतन्य! प्रभावना नहीं कर पाये, तो कोई बात नहीं, किन्तु अप्रभावना भूलकर भी सपने में भी नहीं करना।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

सुख-दुःख का परस्पर सम्बन्ध-

चिरस्थाय्यपि नष्टं स्याद्विरुद्धार्थे हि वीक्षिते।
सन्निधावपि दीपस्य किं तमिस्रं गुहासुखम्।।

जैसे अन्धकार से परिपूर्ण व्याप्त गुफा के समीप दीपक लाने पर अन्धकार स्वयमेव ही निकल कर भाग जाता है, वैसे ही चिरकाल से उपस्थित वस्तु भी उसके विरोधी पदार्थ के आने से स्वयमेव नष्ट हो जाती है।

कम्मोदएणं सह कज्जोदयो वि अववादट्ठेदू

हे पण्णप्पा ! सम्मं - साहगवाणीए मोणवदं हवदि, साहणा समावददि। पत्तेगकिरिया - चरिया आगमपाढं सावेदि। पुज्जपादसामिणा णिग्गंथमेव मोक्खमग्गो पण्णत्तो। साहगो मोक्खमग्गो, णवरि रदणत्तयधम्मो साहगस्स समीवे होदि, णेव अण्णत्थ। समएसु रदणत्तयमग्गसरूवो लिविबद्धो। तस्सरूव-सादो केह, को अणुहवो ? अयं सम्मं-वीदरागी-भावलिंगी-साहू हि जाणदि, णेव कोवि विण्णो। विण्णं सत्थणाणमत्थि, अणुहवणाणं णत्थि। जहा बंज्झा-इत्थिं पसवपीडाणाणं सुदं दिट्ठं होदि, पसवपीडाणुहवो जणणी-सदिसं ण होदि, तहेव अणुहवसील-णाणावत्था एवं अणुहवहीणावत्था णेया। धण्णा ते भदंता जे

''कर्मोदय ही नहीं, कार्योदय भी अपवाद का हेतु''

हे प्रज्ञात्मन्! सच्चे साधक की वाणी में मौन-व्रत हुआ करता है, परन्तु साधना मुखरित हुआ करती है। प्रत्येक क्रिया, चर्या आगम का पाठ सुनाती है। आचार्य भगवान् पूज्यपाद स्वामी ने ''सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ में निर्ग्रंथ को ही मोक्षमार्ग कहा है। साधक ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि रत्नत्रय-धर्म साधक के पास ही होता है, अन्यत्र नहीं हुआ करता। शास्त्रों में रत्नत्रय मार्ग का स्वरूप लिखा है। उस स्वरूप का स्वाद कैसा है, अनुभव क्या है? यह तो सच्चा वीतरागी भावलिंगी साधु ही बता सकता है, विद्वान् तो नहीं बता पाएगा। कारण, विद्वान् को शास्त्रज्ञान तो है, पर अनुभव-ज्ञान नहीं है। अनुभवशील ज्ञान व अनुभवहीन ज्ञान की अवस्था ठीक उसी प्रकार है जैसे कि बांझ स्त्री को प्रसूति की पीड़ा का ज्ञान सुना-देखा हुआ तो होता है, परन्तु प्रसूति की पीड़ा का अनुभव प्रसुति करनेवाली माता जैसी नहीं होता। धन्य हैं वे भदंत मुनीश्वर, जिन्होंने

आदधम्मं गेज्झित्ता पज्जायं पवित्तं कुज्जा। जे भोगबलीदो णियरक्खणं कुणंति, दद्धुरमणोजस्स परिमद्दित्ता बंभसरूवे रज्जंति ते अरहंतवेसधारी-णिग्गंथसमणा वियाणंति माणवपज्जायस्स उत्तमत्तं। तेसिं चरणारविंदाणं वंदेमि। जिणमुद्दं गेज्झित्तु वि विसएसुं आसत्तं एवं आदसाहणा-रित्तं णवि संपस्सेमि हं। सो जीवो जिणसासणस्स कलंको। णमोत्थु-सासाणस्स पहावणाए आदसाहणाए जिणवेसं परिगेण्हदे। जदि समणो आदपहावणाए सह धम्मपहावणं ण कुव्वदि दु तस्स वेसगहणं णिस्सारं। साहुवग्गं तादो किरियादो चेतेज्जा, जेण कोवि सगं जिणसासणं च असुहदिट्ठीए ण पस्सेज्जा। जदि तुमं आगमविहिद- चरिया-अणुट्ठाणं करहि दु तुव असच्चं ण भासिस्ससि। भावुगा लोगाचारी-भवाभिणंदी-साहगा आगमस्स मज्जादाओ धंसिदूणं अवण्णवादपत्तं सिज्झंति।

आत्मधर्म को स्वीकार कर पर्याय को पवित्र किया है। मनुष्य पर्याय की श्रेष्ठता को किसी ने समझा है तो एकमात्र अर्हत् वेषधारी निर्ग्रंथ मुनियों ने, जिन्होंने भोगों की बली से अपनी रक्षा की है, दुर्धर मनोज का मर्दन कर ब्रह्म-स्वरूप में लीन हुए हैं। उनके चरणारविंद की मैं वंदना करता हूँ, परन्तु जिनमुद्रा को स्वीकार करके भी विषयों में आसक्त तथा आत्म-साधना से रिक्त हुए को मैं देखना भी पसंद नहीं करता हूँ। वह व्यक्ति जिनशासन का कलंक है। जिनवेष तो नमोस्तु-शासन की प्रभावना व आत्मसाधना के लिए स्वीकार किया जाता है। यदि मुनिराज आत्म-प्रभावना के साथ धर्म-प्रभावना नहीं कर सके, तो उसका वेष धारण करना व्यर्थ है। कम से कम साधुवर्ग को उन क्रियाओं से सचेत रहना चाहिए, जिनसे स्वयं पर तथा जिनशासन पर किसी की भी अशुभ दृष्टि न पड़े। यदि तुम आगम-विहित चर्या का अनुष्ठान करो तो तुम्हारे लिए कोई गलत नहीं कह सकता। आगम की मर्यादाएँ भंग करके अवर्णवाद के पात्र बन जाते हैं भावुक लोकाचारी भवाभिनंदी साधक।

जावदु हं सगुरुमुहेण सग-समेण य आगमं अज्झेमि सो अम्ह पच्चक्खे दिस्सेमि। जदि सावगो साहगो व आगम-आणा-पालणं कुव्वदि एवं कोवि विसेस-साहणं ण कुव्वदि, तहवि तस्स तहा तेण धम्मस्स अपुव्वपहावणा होदि। लोगाववादादिणो कम्मुदयो दु होदि, णेव सव्वहा। जहा रज्जाणा-अणुसारेण जणसमूहा चलंति दु राओ कदावि दंडं ण जच्छदि, तहेव धम्मायरिया धम्माराहगा जदि समयाणा-अणुसारेण पचलेंति दु पुण्णोदएण असुहकम्मोदयो वि परिअट्टदि। पंच-छट्ठ-सत्त-हत्थे सूरी-अज्झावगो य साहू परिहरिदूण अज्जाओ वंदंतु, इमा आगमाणा; किण्णु मज्जादा तुट्टदि। किंचण मज्जादा दु धार। एयंते विसमलिंगीदो आवरणिद-कक्खे चरिचाओ ण होज्जा।

जितना मैंने स्वगुरुमुख से तथा स्वश्रम से आगम का अध्ययन किया है वह मुझे स्पष्ट ध्वनित हो गया है। यदि श्रावक तथा साधक आगम-आज्ञा का पालन करता रहे, विशेष साधना न भी कर पाए, तो भी उसकी तथा उसके माध्यम से धर्म की अपूर्व प्रभावना हो सकती है। कर्मोदय तो होता ही है लोकापवादी का, परन्तु सर्वथा नहीं। जिस प्रकार राजाज्ञा के अनुसार प्रज्ञा चलती रहे, तो राजा को दण्डित करने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार से धर्माचार्य या धर्माराधक कोई भी हो, यदि शास्त्राज्ञा के अनुसार चलते हैं तो अशुभकर्मोदय भी संक्रमित हो जाता है पुण्योदय से। आगम-आज्ञा है कि आर्या व अन्य स्त्रीवर्ग आचार्य को पाँच, उपाध्याय को छः, साधु परमेष्ठि को सात हाथ की दूरी से वंदना करें, परन्तु मर्यादा समाप्त हो रही है। कुछ सीमा तो रखें। एकांत में विषमलिंगियों से बंद कमरे में चर्चाएँ नहीं होना चाहिए।

हे अप्पा ! जदि सगस्स जिणसासणस्स धम्मस्स एवं गुरुस्स हासं ण इच्छसि, सगहिदं इच्छसि दु आगम-मज्जादाए णिज्झ।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

हे आत्मन्! यदि निज की, जिनशासन, धर्म तथा गुरु की हँसी नहीं चाहता, स्वहित चाहता है तो आगम-मर्यादा का ध्यान रखना।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

इच्छा का अभाव ही सुख–

परिणामविशुद्धिश्च बाह्ये स्यान्निः स्पृहस्य ते।
निःस्पृहत्वं तु सौख्यं तद्बाह्ये मुह्यसि किं मुधा।।

हे आत्मन्! बाह्य पदार्थों में इच्छा न करने से, ममत्व न करने से तुम्हारे परिणामों में निर्मलता आयेगी तथा इच्छा से रहित होना ही सुख है; इसलिए तुम बाह्य पदार्थों में व्यर्थ ही मोह क्यों करते हो?

सग्गुणाणं रुक्खावलिं रुप्प

हे पण्णप्पा ! भवभमणादु किं तुमं ण थक्कसि ? अणेगभवो णस्सीअ, पुणो वि चउरासीदि-जोणिचक्कादु भयो ण उप्पज्जदि। जीवो जाणदि मण्णदि मण्णावदि किंदु वेरग्गं ण पसज्जदि। अंदरादु विरत्ती ण जग्गदि, आसत्ति-वड्ढी एव होदि। किं कारणं ? किं कदा तव्विसए विचिंतदे ? जदि ण कुणदि दु अज्ज चिंतणं पारंभदु। जे वि वयं सुणेमु सिक्खेमु सो सव्वो कण्णविसयो गहिदूण सुणेमु। जावं झाणं तावं सुणीअ; जावं सुट्ठु लग्गीअ तावं परूवीअ। भासित्तु णिहिलविसया णिस्सारीअ, सगस्स समीवे किंचि वि ण रहीअ। आगमा अज्झप्प-वीदराग-वयणाणि महासमणाणुहवा फुडवयणामिदा सुणित्तु णवि णिस्सारेज्जा। कण्णेहिं सुणिदूणं

''लगाओ सद्गुणों की वृक्षावली''

हे प्रज्ञात्मन्! भव की भटकन से क्या तू अभी तक थका नहीं? अनेकों भव बीत गए, फिर भी चौरासी-लाख योनियों के चक्र से भय उत्पन्न नहीं हो रहा। व्यक्ति जानता है, समझता है, समझा देता है, परन्तु वैराग्य को प्राप्त नहीं होता, अंदर से विरक्ति जाग्रत नहीं होती, अपितु आसक्ति की वृद्धि होती दिखती है। क्या कारण है? क्या कभी उस विषय पर चिंतन किया? यदि नहीं किया, तो अब करना प्रारंभ करो। जो भी हम सुनते-सीखते हैं, वह सब कर्ण का विषय बनाकर सुनते हैं। जब तक याद रहा, तब तक सुनते रहे; जब तक अच्छा लगा, कहते रहे। कहकर पूरा विषय बाहर कर दिया, स्वयं के पास कुछ बचा ही नहीं। आगम, अध्यात्म, वीतराग-वाणी, महान् संतों के अनुभव, स्फुट वचनामृतों को कर्ण से सुनकर निकाल नहीं देना चाहिए, अपितु कर्ण से सुनकर अंतःकरण में प्रवेश करा देना चाहिए। जो वाणी अंतःकरण में प्रवेश कर जाती है,

चित्तं पविसावेज्जा। जा वाणी चित्ते पविसदि सा भूगदजलबिंदुसमो होदि। जहा भूगदणीरं उत्तम-बीयस्स सस्सं णिव्वत्तदि तहेव हिदयखेत्तगदं जिणसुत्तणीरं दंसणणाणचारित्तबीयं अंकुरिदं किच्चा मोक्खफलसस्सं णिव्वत्तिदूणं अणंतभवाणं खुहादि-दोसाणं खुहासमणं कारंति।

हे विण्ण ! जदि तुमं आगमरहस्सं जाणेसि दु परपवंचादु विहडिदूण सगहिदयखेत्तभूमिं उव्वरं किच्चा, सग्गुणरुक्खावलिं रुप्पित्ता चारित्तस्स हरत्तं वद्धार। किं होदि ? किं होदु ? इमेसु वयणेसु चारुवीदरागमुणिलिंगस्स अणादरं मा कुण। परणिंदादो सगपसंसादो विहडिदूण आदाणंदी होदूणं परमाणंदी-सिद्धावत्थं लभ।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

वह भूमिगत जलबिंदु के तुल्य हुआ करती है। जैसे भूमि में गया पानी उत्तम बीज की फसल तैयार करा देता है, उसी प्रकार हृदय-क्षेत्र में गया जिनसूत्र-रूपी नीर दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी बीज को अंकुरित कर मोक्षफल की फसल (शस्य) को तैयार कर अनंतभवों की क्षुधादि दोषों की भूख का शमन करा देता है।

हे विज्ञ! तूने यदि आगम के रहस्य को समझा है, तो पर-प्रपंचों से परे होकर अपने हृदय-क्षेत्र की भूमि को उर्वरा करके, सद्गुणों की वृक्षावली लगाकर चारित्र की हरियाली को वृद्धिंगत कर। क्या हो रहा है, क्या होना चाहिए, इन बातों में सुंदर वीतराग मुनिमद्रा का अनादर नहीं कर देना। परनिंदा व स्वप्रशंका से परे होकर आत्मानंदी होकर परमानंदी सिद्धावस्था को प्राप्त कर।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

सत्तु त्थि अवेक्खा

हे पण्णप्पा ! लोए ण सत्तू ण य कोवि पियो। जावं जीवस्स अवेक्खा-पुत्ती जेण होदि, तावं सो तस्स मित्तं। जत्थ अवेक्खाणं उवेक्खा, तत्थेव सत्तुत्तं जायदि। अज्ज तुमे सिक्खं गेज्झ ण दु कुओइ अवेक्खं कुण, णेव अण्णस्स उवेक्खं कुण। दोण्णि ठिदीओ साहणाए बाहगतच्चं। सामण्णजणा आगच्छंति, जा चाग-तवस्सा-साहणादु कोवि पजोजणं णत्थि; समय-णिग्गमणत्थं अत्थ-तत्थचरिचाओ करंति। जदि पढमं तेसिं सुणदु दु तुमं सम्मं समणो अण्णहा तुमं सुद्धु समणो णत्थि। साहगं जणसंपक्कादु पुहं होज्जा। चदुभत्ता ण होस्संति किंदु चदु-आराहणा-भत्ती णिव्विकप्पा होहिदि एवं जण-जण-सड्ढाकेंदं पि होस्संति। कदाइ अहिग-सामिप्प-ववहार-ठावणं हि सव्वुवरिं। किं गहत्था

''अपेक्षाएँ ही शत्रु हैं''

हे प्रज्ञात्मन्! लोक में न कोई किसी का शत्रु है, न मित्र। व्यक्ति की अपेक्षाओं की पूर्ति जिससे जब तक होती रहती है, तब तक वह उसका मित्र है। जहाँ अपेक्षाओं की उपेक्षा होना प्रारम्भ होती है, वहीं शत्रुता का जन्म हो जाता है। आज तुझे शिक्षा ग्रहण करना है कि न तो किसी से अपेक्षा रखना, न ही किसी की उपेक्षा करना। दोनों ही स्थितियाँ साधना में बाधक-तत्त्व हैं। सामान्य जन आते हैं, जिन्हें त्याग, तपस्या, साधना से कोई प्रयोजन नहीं है, समय निकालने हेतु यहाँ-वहाँ की बातें करते हैं। उनकी सर्वप्रथम सुन लो तो आप सच्चे महाराज हैं, अन्यथा महाराज ठीक नहीं है। तात्पर्य इतना ही है कि साधक को जनसंपर्क से परे होना ही चाहिए। ठीक है, चार भक्त नहीं बनेंगे, परन्तु चार आराधनाओं की भक्ति निर्विकल्प होगी। जन-जन की श्रद्धा के केन्द्र भी बन जायेंगे। अधिक निकटता का व्यवहार किसी से नहीं रखना ही सर्वोपरि है। क्या गृहस्थ

आदतच्चचरिचं करिस्संति? जदि कदाचि कोवि करिस्संति दु ते बहु-विरला सावगा। जदा वि सावगो साहुसमीवे गच्छदु तदा तेण तावदु चरिचं कुणदु, जेण साहुस्स उवओगे किंचिवि विगारो ण उब्भावदु। सगदुक्खसुहचरिचाओ मा कुण, संसारदुक्खादु मुत्तीए पिच्छणं कुण। जदि साहगो अण्णसाहगपसंसं ण कुणदि दु आलोयणं पि ण कुज्जा। साहुसमीवे उववेसण-भावणा दु संतभवेण तेसिं दिणचरियाए अबाहगो साहगो होदूणं चिट्ठदु। एवंचेव उत्तमं वेज्जावच्चं। साहगं आमं व णो पडिवएज्जा। आवस्सग-कज्जत्थं भासदि दु सुत्तेसु समिदीए थोव-भासणं किच्चा पडिवएज्जा। लोइगजणादो अहिगसंभासणं ण कुणेह। एवंचेव आगमाणा। तेण हि साहगस्स णिम्मलसाहणा होहिदि एवं णिरत्थग-चिंतादो पुहं वसिस्सं। हे पण्ण! सयल-साहणासु मोणं वरं।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

आत्मतत्त्व चर्चा करेंगे? यदि कदाचित् कोई करेंगे भी तो वे बहुत विरले श्रावक हैं। श्रावक को चाहिए कि जब साधुओं के पास जाएँ तब उनसे उतनी ही चर्चा करें, जिससे उनके (साधु के) उपयोग मे लेश-मात्र विकार उत्पन्न न हो। अपने दुःख-सुख की बातें न करें। संसारदुःख से कैसे मुक्ति हो? वही पृच्छना करें। साधक यदि अन्य साधक की प्रशंसा नहीं कर सके तो आलोचना भी न करें। यदि साधु के पास बैठने की भावना बने, तो शांत-भाव से बैठें। उनकी दिनचर्या में अबाधक बनकर, साधक बनकर। यही सर्वश्रेष्ठ वैयावृत्ति है। साधक के लिए चाहिए कि वे हाँ या न में उत्तर दें। कोई ज्यादा अनिवार्य बात हो तो सूत्रों में, समितिपूर्वक, अल्पभाषण करके उत्तर दें, परन्तु अधिक संभाषण लौकिक जन से न करें। यही आगम-आज्ञा है। उसी से साधक की निर्मल साधना होगी और वह व्यर्थ की चिंताओं से परे रहेगा। हे प्रज्ञ! मौन सब साधनाओं में श्रेष्ठ है।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

विण्णदिट्ठा-हेदू णियदिट्ठा

हे पण्णप्पा ! दिट्ठा दिट्ठं किमु ण पस्सदि ? जो जडो अदिट्ठा तमेव पस्सदि। अयमेव भवभमणस्स मुक्खहेदू। जडदव्वेसु दिट्ठि-गमणं रागदोसस्स मुक्खकारणं। लक्खं तत्थ होदव्वो, जत्तो अभिट्ठफलसिद्धी । अण्णो तत्थ पस्सदि जत्तो किंचि ण पसज्जदि। णियपुरिसस्स परिचयकलं सिक्खेज्जा। सो खलु परमविण्णाणं। सा कला अज्झप्पसत्थेहिं भजिस्सदि। साहुपुरिसा सव्वाहिग-समयो परमागम-पारायणे आगलेज्जा। जिणसुत्तेणं अंतो-सोदं उग्घडदि तहा णाणम्हि अवगाहगो भव्ववरो सहसा सिवत्तसामी होदि। अहो ! मूढो सगसत्ति-उवओगं कत्थ कुणदि ? कामणासु अहवा वासणासु। णरदेहम्हि खलु पवीणदा जेण सिवसहावे गमणं रमणं च होदि। पुरिसो णियचिंतण-चरणादो परमप्पा हुज्जा अहवा

''निज-दृष्टा को देख, बन जाएगा विश्व-दृष्टा''

हे प्रज्ञात्मन्! दृष्टा, दृष्टा को क्यों नहीं देखता? जो जड़ है, अदृष्टा है, उसे ही देखता है। यही भव-भ्रमण का मुख्य हेतु है। राग-द्वेष का मुख्य कारण जड़ द्रव्यों पर दृष्टि का जाना है। लक्ष्य वहाँ होना चाहिए, जहाँ से भी अभिष्ट फल की सिद्धि होती हो। अज्ञ प्राणी वहाँ देखता है जहाँ कुछ मिलनेवाला नहीं है। निज पुरुष को पहचानने की कला सीखने की आवश्यकता है। वही परम विज्ञान है। वह कला अध्यात्म-शास्त्रों से प्राप्त होगी। साधु-पुरुषों को सर्वाधिक समय परमागम के पारायण में लगाने की आवश्यकता है, क्योंकि जिनसूत्र के माध्यम से अंदर का स्रोत खुलता है तथा ज्ञान में अवगाहन करनेवाला भव्यवर शीघ्र शिवत्व का स्वामी होता है। अहो! मूढ़ प्राणी अपनी निज शक्ति का उपयोग कहाँ कर रहा है? कामनाओं में या वासनाओं में। नर देह में ही वह क्षमता है जिसके माध्यम से शिव-स्वभाव में गमन-रमण होता है। पुरुष चाहे तो अपने चिंतन व

णारगी हुज्जा। सुहणिम्मला चिंतणचरणधारा दु परमप्पा विवरीदा दु णारगी। माणवपज्जायो णाणकोसो। जावदु आगमा पुराणा, ते सव्वे णरदेहस्स महिमा। धण्णा ते आयरिया जे सग-भेदवियाणस्स महणीए मंथित्तु अणग्घ-दुल्लहाणि तित्थेसवयणाणि जण-जण-वाणी गुंफंति। ते तित्थयरा वि माणवो आसी जे माणवत्तं देवत्तं पडि परिवट्टिदं एवं अप्पादो परमप्पा जादा। ते दिट्ठेणं दिट्ठं, णादेणं णादं पस्सित्ता जाणित्ता विस्सदिट्ठा विस्सणादा होदूणं अखण्ड-धुवपरमप्पपदं पत्तं। तुमं पि णियणादं दिट्ठं खु पस्स।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

चरण से परमात्मा बन जाए, पुरुष चाहे चिंतन-चरण से नारकी बन जाए। चिंतन एवं चरण की धारा निर्मल व शुभ है तो परमात्मा, विपरीत है तो नारकी। मानव-पर्याय ज्ञान का कोष है। जितने आगम/पुराण विद्यमान हैं, वे सब नर-देह की महिमा हैं। धन्य हो उन आचार्य भगवन्तों को, जिन्होंने अपने भेद-विज्ञान की मथनी से मथकर अमूल्य व दुर्लभ तीर्थेश की वाणी को जन-जन की वाणी बनाया है। वे तीर्थंकर भगवान् भी मनुष्य ही थे, जिन्होंने मानवता को देवत्व की ओर परिवर्तित किया और आत्मा से परमात्मा बन गए। उन्होंने दृष्टा से दृष्टा को, ज्ञाता से ज्ञाता को देखकर, जानकर विश्व-दृष्टा और विश्व-ज्ञाता बनकर अखण्ड-ध्रुव परमात्मपद को प्राप्त कर लिया। तू भी अपने ज्ञाता-दृष्टा को ही देख।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

णमुक्कारे णत्थि, उवसमभावे साहुत्तं

हे पण्णप्पा ! दव्वसंजमो णत्थि बहु-दुग्गमो। जीवो वेसं णंतवारं धारदि, सग्गजत्ताओ वि कुव्वदि, सिद्धत्तं ण पावदि। दव्ववेसो दव्वसंजमो पुण्णबंधहेदू, संवरेण णिज्जराहेदू णत्थि। कोवि जीवो भावसंजमेण सह दव्वसंजमं धारदि दु तस्स पबलपुण्णबंधो एवं संवरेण अविप्पकणिज्जरा वि होहिदि। अंते पुण्णस्स संवरो होदूणं पुण्णपयडि-णिज्जरा वि होहिदि एवं सो जीवो चरमसुक्कझाणबलेण णिव्वाणसिरिवरणं कुव्वदि। इमा अवत्था भावलिंगीणं खु होहिदि। अहो ! धण्णा ते समणा, जा घाणीए पेल्लिदा, सियालणी भुंजीअ, पुणो वि कसायभावं ण भजीअ एवं उवसमभावविसज्जणं ण किदा पंचपरमेट्ठीए आदज्झाणे

''साधुता नमोस्तु कराने में नहीं, उपशमभाव में है''

हे प्रज्ञात्मन्! द्रव्य-संयम बहुत कठिन नहीं है। वेष तो इस जीव ने अनेक बार धारण किया है, स्वर्गों की यात्राएँ भी की हैं, परन्तु सिद्धत्व को प्राप्त नहीं कर पाया। द्रव्यवेष, द्रव्यसंयम पुण्य-बंध का तो कारण है, परन्तु संवरपूर्वक निर्जरा का हेतु नहीं है। यदि भाव-संयम के साथ द्रव्य-संयम धारण किया है किसी जीव ने तो उसके प्रबल पुण्य-बंध तो होगा ही, परन्तु संवरपूर्वक अविपाक-निर्जरा भी होगी। अंत में पुण्य का संवर होकर पुण्य-प्रकृतियों की भी निर्जरा होगी और वह जीव अंतिम शुक्लध्यान के बल से निर्वाणश्री का वरण कर लेता है, लेकिन यह अवस्था भावलिंगी की ही होगी। अहो! धन्य है वे योगिराज, जिन्हें घानी में पेला गया, श्यालनी ने भक्षण किया, फिर भी कषाय-भाव को प्राप्त नहीं हुए, उपशम-भाव का विसर्जन नहीं किया। पंचपरमेष्ठि और आत्म ध्यान

च अहिरदो, किंचिवि देहचिंता णो किदा। ते णियदेहिं हि पस्सीअ। भगवं ! सा दसा अम्मि कदा भजिहिमि, जदा हं णिए णियं पस्सेमु, परादो पुहं होमु। धिगत्थु ! कलिकालपरिणदिं; सपरदेहदुक्खाणि पस्सिदूणं रोवदि। रागवसादु कसायोवसमणं बहुजडिलं। अज्ज जीवाणं अंतसे उवसमसंवेगभावस्स अदि-णूणत्तं आगमदि। धम्मप्पा हि धम्मप्पं ण रुच्चदि। देहमेत्तस्स संजमेण किं होहिदि? इयं कढोर-उज्जमं कुणसि, गहपरिवारस्स चागं किच्चा आवेसि, अदु कसायभाव- ईसा-हीणभावणाओ वि तज्ज। किं माणो किं अवमाणो? जदि कोवि साहुं ण णमदु तो किं साहुत्तं वच्चदि? किं दंभीसाहुस्स साहुत्तं परस्स णमुक्कारे णिहिदे? अरे ! सामण्णं मे समीवे, जो णमोत्थु ण करेदि सो विचारहीणो पुण्णवं तम्हा

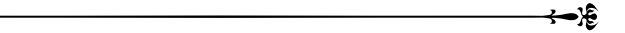

में लीन रहे, देह की कोई चिंता नहीं की। वे निजदेही को ही देखते रहे। भगवन्! वह दशा मुझे कब प्राप्त होगी, जब मैं निज में निज को ही देखूँ, पर से परे हो जाऊँ। धिक् हो कलिकाल की परिणति को। निज देह के कष्ट तो बहुत दूर हैं, पर-देहों के कष्टों को देख-देखकर रो रहा है। रागवशात् कषायों का उपशमन बहुत जटिल है। आज प्राणियों के अंदर उपशम तथा संवेगी भाव की अति न्यूनता आ गई है। धर्मात्मा ही धर्मात्मा को नहीं भा रहा। क्या होगा देह मात्र के संयमी बनने से? अरे भाई! इतना कठोर पुरुषार्थ किया, गृह परिवार का त्याग करके आ गए, अब कषाय-भाव, ईर्ष्या, हीन-भावना को भी त्याग। क्या मान, क्या अपमान। साधु को कोई नमन न करे, तो क्या साधुपना समाप्त हो जाता है? क्या अंहभावी साधु की साधुता पर के द्वारा किए नमोस्तु में छिपी है? अरे! साधुता मेरे पास है, जो नमोस्तु निवेदित नहीं कर पा रहा, वह विचारहीन पुण्यवान् है, इसलिए विनयभाव को प्राप्त नहीं हो पा रहा-ऐसा

विणयभावं ण भजदि। इदं पसंतचिंतणं होज्जा, किंदु तम्हि कोवित्तु अण्णा सगस्स असाहुत्त-परिचयं मा जच्छ। जोई उवसमभावं अभिगच्छे।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

प्रशान्त चिंतन तो होना चाहिए, परन्तु उस पर क्रोधित होकर दूसरों को निज की ही असाधुता परिचय मत दे। उपशम-भाव को प्राप्त कर योगी।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

सच्चे गुरु का स्वरूप–

रत्नत्रयविशुद्धः सन्पात्रस्नेही परार्थकृत्।
परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः।।

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप 'रत्नत्रय' के धारक हैं, सज्जन हैं, निष्पृह भाव से योग्य शिष्यों पर स्नेह रखते हैं, परोपकारी हैं, धर्म का पालन करते हैं तथा संसाररूपी समुद्र से पार लगाते हैं; वे ही सच्चे गुरु हैं।

पूया-पदिट्ठादु णत्थि सामण्ण-परिचयो

हे पण्णप्पा ! णिक्कलंक-जीविदं हि सामण्णस्स जीविदं। जीवे साहुरूवधारणं इयं उत्तमं णत्थि, जावदु उत्तमा सज्जणत्तं सहजत्तं च। णिम्मलचारित्तं जगप्पुज्जं किंदु चारित्तरूवम्हि असंजमी जगम्हि हस्सपत्तं होदि। जो कदा सामी आसी, अज्ज सो चेव भिक्खू। अहो ! जीवा भिक्खुस्स सम्माणं दु करंति, तं करुणादिट्ठीए पस्संति किंदु विगारिस्स सम्माणं कोवि ण करदि णेव तं पडि दयादिट्ठीए ठवंति। विगारी दारे दारे आघादं लहदि, अणुचरस्स वि अणुचरो होदि। जो गुरुदाए जीवदि सो सहसा हु लहुत्तं पावदि। जावं पुव्वपुण्णोदयो तावं पूयं लोगपदिट्ठं लहदि किंदु पूयादु पदिट्ठादु ण होदि सामण्णस्स परिचयो। जे बहि-पहावणामत्तेण

''पूजा-प्रतिष्ठा से साधुता की पहचान नहीं होती''

हे प्रज्ञात्मन्! निष्कलंक जीवन ही साधुता का जीवन है। जीवन में साधुरूप धारण करना इतना श्रेष्ठ नहीं है, जितनी सज्जनता, सहजता है। निर्मल चारित्र जगत् में पूज्य है, परन्तु चारित्र के रूप में असंयमी जगत् में हास्य का पात्र हुआ करता है। कभी स्वामी था, आज वही भिखारी बन गया। अहो! भिखारी का तो लोग सम्मान कर लेते हैं, उसे करुणा-दृष्टि से देखते हैं, परन्तु विकारी का न कोई सम्मान करता है, न उसके प्रति दया-दृष्टि ही रखते हैं। विकारी दर-दर ठोकरें खाता है, अनुचर का भी अनुचर बन जाता है। गुरुता में जीनेवाला शीघ्र ही लघुता को प्राप्त कर लेता है। हाँ, जब तक पूर्व पुण्योदय है, तब तक पूजा प्राप्त कर सकता है, लोक-प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है, परन्तु प्रतिष्ठा-पूजा से साधुता की पहिचान नहीं हुआ करती। जो व्यक्ति बाह्य प्रभावना मात्र

पहाविदं होंति, ते जीवस्स परिक्खादु अपरिचिदा। अहुणा ते अज्झयणं कुज्जा। कलंकिदजीविदस्स अवेक्खा मिच्चुवरणं वरं।

हे अप्पा ! लोगपहावणं धम्मपहावणं च तुमं कुव्वसे दु उत्तमं किंदु आदपहावणं मा विलुंप। जेहिं जेहिं णिमित्तेहिं सज्जणदा णस्संति, तेहिं तेहिं णिमित्तेहिं विहड। साहुपुरिसं विसमलिंगीदो पुहं परिवसेज्जा। इह लोए जीवहि दु जसेण सह जीवहि। जदि तुज्झ णिम्मलचरियं कोवि ईसालू मइलदि, पुणो तस्स चिंतं मा कुण। कम्मविवागं गेज्झित्ता समदा - भावेण जीवहि, तुज्झ कम्मणिज्जरा होहिसि; पबलपुण्णोदयो आगमेहिसि, णीर-खीरमिव फुरिहिसि। कोवि वियप्पं मा कुण।।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

को देखकर प्रभावित हो जाते हैं, वे व्यक्ति अभी व्यक्ति की परीक्षा से अनभिज्ञ हैं। अभी उन्हें अध्ययन करने की आवश्यकता है। कलंकित जीवन जीने की अपेक्षा मृत्यु का वरण श्रेष्ठ है।

हे आत्मन्! लोक-प्रभावना, धर्म-प्रभावना तू कर सका तो अच्छा है, परन्तु आत्म-प्रभावना को नष्ट मत कर। जिन-जिन निमित्तों से सज्जनता में आँच आती है, उन-उन निमित्तों से दूर रहना। साधु पुरुष को विषम लिंगियों से दूर रहना अनिवार्य है। इस लोक में जीना है तो यश के साथ जिओ। यदि आप की चर्या निर्मल है तब कोई ईर्ष्यालू आप पर दोष लगाता है, तो फिर उसकी चिंता भी मत कर। कर्म-विपाक स्वीकार कर समता-भाव से जिओ, तेरे कर्मों की निर्जरा होगी, प्रबल पुण्योदय आएगा, नीर-क्षीर की भांति स्पष्ट हो जाएगा। कोई विकल्प मत कर।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

साणुहवेणं णिज्जदि भगवं अप्पा, णेव सद्देहिं

हे पण्णप्पा ! णाणघण - भगवं अप्पं सद्देहिं णवि वियाणिज्जदि। जो कहणं सद्दा करिस्संति ते सव्वे परोक्खरूवा होंति। जदा वत्ता बवदि तदा णाणप्पग-भावादु भासेदि। सद्दा वाचगा, पोग्गलपज्जाया। पोग्गलादु चेदण्ण-अणुहवो कहं? सद्दागमादो दव्वस्स णाणं होदि, णेव भावस्स। भावप्पगदिट्ठी अकहणीयो, सो दु साणुहवगम्मो। जो सद्देहिं आदपरूवणं किच्चा भासदि-'आदवेदणं करेमि हं, अप्पं पस्सेमि हं'-अयं सद्दजालो। अमुत्तिगो अप्पा। कुंदकुंदसामिणा पण्णत्तो आदा इंदियगाही णत्थि। सद्देहिं कहं अमुत्तिगो पच्चक्खो? सुदविसयो परोक्खो सो पच्चक्खो कहं जाणिस्सदि? खालु सुदणाणेणं अप्पं पच्चक्खं जाणिज्जदि। सो संववहारिग - पच्चक्खो बुज्झेज्जा।

''शब्दों से नहीं, स्वानुभव से जानी जाती है भगवान् आत्मा''

हे प्रज्ञात्मन्! ज्ञानघन भगवान् आत्मा को शब्दों से नहीं जाना जा सकता है। शब्द जो कथन करेंगे वे सब परोक्ष रूप होंगे। जब वक्ता बोलता है, तब ज्ञानात्मक भाव से कहता है। वाचक शब्द होते हैं, जो कि पुद्गल की पर्याय हैं। पुद्गल से चैतन्य का अनुभव कैसा? शब्दागम से द्रव्य का ज्ञान होता है, भाव का नहीं। भावात्मक दृष्टि वाक्गोचर नहीं, वह तो स्वानुभवगम्य है। जो आत्मा की शब्दों से व्याख्या करके यों कहता है कि मैं आत्मा का वेदन कर रहा हूँ, मैंने आत्मा को देखा, यह शब्द-जाल है। आत्मा तो अमूर्तिक है। भगवान् कुंद-कुंद स्वामी ने 'समयसार जी' में उल्लेख किया कि आत्मा इन्द्रियग्राही नहीं है। शब्दों से अमूर्तिक प्रत्यक्ष कैसे होगा? श्रुत का विषय परोक्ष है। वह प्रत्यक्ष कैसे जान पाएगा? यथार्थ

अहवा णाणं आदगुणो, गुणो गुणीदो पुहं ण होदि। तम्हा सिया आदपच्चक्खो सुदणाणेण वि होदि। णाणप्पगदिट्ठीए भूदत्थेणं साणुहवेणं अप्पं वियणिज्जदि। आदा सद्दविसयो णत्थि। तं जहा-

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।

इदि रसरूवगंधफाससद्दसंठाण-अव्वत्त - अभाव - सरूवे वि ससंवेदणबलेण आदा पच्चक्ख-गोयरो। एसो चेयण्णरूवो परमट्ठसरूवो जीवो। जेसिं पगासा णिम्मला, एदे भगवंता इह लोए टंकुक्किण्णा परदव्वादु पुहं जोदिसरूवा विज्जंति। अखण्डपरमजोदी

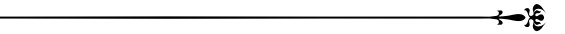

में श्रुतज्ञान से आत्मा को प्रत्यक्ष जाना जाता है। वह सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष समझना। अथवा ज्ञान आत्मा का गुण है, गुण-गुणी से पृथक् नहीं होता। इसलिए कथंचित् आत्मा का प्रत्यक्ष श्रुतज्ञान से भी होता है। ज्ञानात्मक दृष्टि से भूतार्थ से तो स्वानुभव से आत्मा को जाना जाता है, परन्तु शब्दों का विषय तो आत्मा नहीं है। जैसा कि कहा है-

''हे भव्य! तू जीव को ऐसा जान कि वह रस-रहित है, रूपरहित है, गंधरहित, इंद्रियों के अगोचर है, चेतना गुण से युक्त है, शब्दरहित है। किसी चिह्न द्वारा जिसका ग्रहण ही नहीं होता और जिसका आकार कुछ कहने में नहीं आता है।'' (समयप्राभृत)

इस प्रकार रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थान व्यक्तपने का अभावस्वरूप होने पर भी स्वसंवेदन के बल से आत्मा प्रत्यक्षगोचर है। ऐसा चैतन्य परमार्थ-स्वरूप जीव है। जिनका प्रकाश निर्मल है, ऐसे भगवान् इस लोक में टंकोत्कीर्ण पर-द्रव्यों से भिन्न ज्योतिस्वरूप

अव्वत्तव्व-परमजोइगम्म-साणुहव- सीयलतरंगजुत्त-तरंगिणीए अवगाहणविसयो। जहा तरंगिणीए णिमण्ण-पुरिसो अंदरम्हि जालकीलं कुणंतो अण्णं ण लोयदि, सीयल-सरिदा-णीरे बुड्ढदि तहेव जोईजणा आदतच्चे अभिरमित्तु आदाणंदे णंदंति।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

विराजमान हैं। अखण्ड परमज्योति अवक्तव्य-परमयोगीगम्य स्वानुभव की शीतल तरंगों से युक्त तरंगिणी में अवगाहन का विषय है। जैसे तरंगिणी में निमग्न हुआ पुरुष अंदर ही अंदर जलक्रीडा करता हुआ वह किसी को दिखता नहीं है, शीतल सरिता के नीर में निमग्न हो जाता है, उसी प्रकार योगीजन आत्मतत्त्व में लीन होकर आत्मानंद में नंदित होते हैं।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

पराधीन जीवन से मरण श्रेष्ठ–

जीवितात्तु पराधीनाज्जीवानां मरणं वरम्।
मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने।।

पराधीन रहकर जीवन जीने की अपेक्षा जीवों को मरण ही श्रेष्ठ है; वन में सिंह को वनवरों का स्वामी किसने बनाया? किसी ने नहीं। सिंह तो स्वयमेव अपने पुरुषार्थ से ही स्वामी बन गया है।

आदविगासस्स दससोवाणाणि

हे पण्णप्पा ! भारदीय-तच्च-मणीसा जगे गुरुत्तं पप्पं। विस्सदंसणाणि भोदिगपदत्थ-गवेसणं किदाणि, पोग्गलेसु हि णियणाणसत्ति-पओगं किदाणि। एवं भरहम्हि भोदिगदव्वाणि गउणं करंतं आदविगास-गवेसणं किदो। अप्पं परमप्पा करमाणा विज्जा विस्से भारदीयजेण्ह-दंसणे एव। एत्थ कोवि एगं णिच्छिद-अप्पं भगवं कप्पित्तु अधिट्ठिदं णवि कीरदे अवि दु पत्तेग-अप्पा परमप्पा सिज्झदि। परमप्पपद-सिद्धीए आदगुणाणं कमिगविगासं कादव्वो, दुग्गुणाणं बुद्धीए वोस्सरेज्जा। चागमग्गो हि संजममग्गो। जीविदं संजमिदं किच्चा परमावत्था-लद्धी संभवो।

आदसाहगा पडिपलं आदसाहणं करंति, पुणो किंचि एसो समयो आगच्छदि जो मंगलभूदो। इणं कालमंगलं उच्चंति।

''आत्मविकास के दश सोपान''

हे प्रज्ञात्मन्! भारतीय 'तत्त्व मनीषा' जगत् में गुरुता को प्राप्त है। विश्व-दर्शन भौतिक पदार्थों की ही खोज करते रहे, पुद्गलों में ही अपने ज्ञान की शक्ति का प्रयोग करते रहे। वहीं भारत में भौतिक द्रव्यों को गौण करते हुए आत्म-विकास की खोज की गई। आत्मा को परमात्मा कैसे बनाया जा सकता है? यह विद्या यदि विश्व में कहीं है तो यह भारतीय जैनदर्शन में ही है। यहाँ किसी एक निश्चित आत्मा को भगवान् बनाकर अधिष्ठित नहीं किया गया, अपितु प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है। परमात्मा बनने के लिए आत्मगुणों का क्रमिक विकास करना होता है, दुर्गुणों का बुद्धिपूर्वक त्याग करना होता है। त्यागमार्ग ही संयम-मार्ग है। जीवन को संयमित करके ही परम-अवस्था की प्राप्ति संभव है।

आत्मसाधक प्रतिपल आत्मा की साधना करते हैं, फिर कुछ समय ऐसा आता है जो मंगलभूत होता है। इसे कालमंगल भी कहते हैं।

लोए इमा दिवसा दसलक्खणपव्वसण्णा। भूदत्थे इमे पव्वदिवसा आदसाहणाए होंति, णेव विसयसंपुत्तीए। जेण्हमए जो अप्पं विसुज्झदि, अप्पणो विसयकसायादो रक्खदि, सो पव्वो। आगमेसु दुविहं पव्वपरूवणं। सासदपव्वो णेमित्तगपव्वो चेदि। जे तेयालिगा सणादणा ते सासदपव्वा। जहा अट्ठमी चउद्दसी अट्ठण्हिगा पज्जुसणो; इमे अणेमित्तिगपव्वा, सिट्ठीए पारंभादो चलंति। जे केइ -घडणाविसेससंबंधा ते णेमित्तिगपव्वा। जहा-वीरजम्मुस्सवो रक्खाबंधणं (सावणपुण्णिमा) वीरणिव्वाणुस्सवो (दीवुस्सवो)।

पव्वराओ दसलक्खणधम्मपव्वो। धम्मो खलु वत्थुसहावो। मुंचेदूणं वत्थुसहावं ण कोवि अण्णो धम्मो। जहा-सलिलधम्मो

लोक में ऐसे दिनों को दशलक्षण पर्व की संज्ञा दी जाती है। सत्यार्थ में तो ये पर्व के दिन विषयों की पूर्ति के नहीं होते, अपितु आत्म-साधना के होते हैं। जैनदर्शन में पर्व उसे कहा जाता है जो आत्मा को पवित्र करे, आत्मा की विषयों और कषायों से रक्षा करे, उनका नाम पर्व है। आगम ग्रंथों में दो प्रकार के पर्वों का वर्णन मिलता है। एक शाश्वत पर्व, दूसरा नैमित्तिक पर्व। शाश्वत पर्व वे होते हैं जो त्रैकालिक होते हैं और अनादिकाल से सनातन हैं। जैसे अष्टमी, चतुर्दशी, आष्टाह्निका और पर्यूषण पर्व अर्थात् दशलक्षण-धर्म पर्व। ये अनैमित्तिक पर्व हैं और सृष्टि के प्रारम्भ में ही चले आ रहें हैं। नैमित्तिक पर्व वे होते हैं, जो किसी घटना-विशेष से संबंध रखते हैं, जैसे-भगवान् महावीर स्वामी का जन्म-दिवस 'महावीर जयंती' मनाते हैं। 700 मुनिराजों का उपसर्ग दूर हुआ था श्रावण पूर्णिमा को, इसलिए उस दिन को रक्षाबंधन पर्व के रूप में मनाते हैं, भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण से दीपावली पर्व मनाते हैं, ये सब नैमित्तिक पर्व हैं।

पर्वों का राजा दशलक्षण-धर्म पर्व है। धर्म वास्तव में वस्तु का स्वभाव है। वस्तुस्वभाव को छोड़कर अन्य कोई धर्म नहीं है, जैसे पानी का

सीयलत्तं अणलधम्मो उण्हत्तं तहेव उत्तमखामा-मद्दवज्जव-सउच्च-सच्च- संजम-तव- चागाकिंचण्ह-बम्हा आदधम्मा। एदे धम्मा मुंचेदूणं अप्पं ण होंति। जेसिं अंतसे होंति धम्मस्स दसलक्खणाणि ते हु धम्मप्पा। जेसुं एदाणि ण दिस्संति, ता धम्मसुण्णा जाणेज्जा।

अह समासेण दसधम्मलक्खणाणि। कोहुप्पत्तीए णिमित्ते एवं असहणीय-अक्कोस-संभवे वि कालुस्सभावाभावो खमाधम्मो। कोहं अकरणं, सम्मभावधारणं एवं इमे कम्मुदयं मुणिदूणं समत्त-लद्धी खु उत्तमखामा। तम्हा खामा वीरस्स भूसणं।

उत्तमजादि-कुल-रूव-विदुत्ता-ईसरिय-सुदणाण-लाह-वीरियसत्ति-सब्भावे वि तक्कदमदाभावो एवं परेहिं पराभव-णिमित्ताणं पप्पे वि अहिमाणाभावो उत्तममद्दवधम्मो।

धर्म शीतलता, अग्नि का धर्म उष्णता है, इसी प्रकार आत्मा का धर्म उत्तम-क्षमा, उत्तम-मार्दव, उत्तम-आर्जव, उत्तम-शौच, उत्तम-सत्य, उत्तम-संयम, उत्तम-तप, उत्तम-त्याग, उत्तम-आकिंचन्य और उत्तम-ब्रह्मचर्य है और ये धर्म आत्मा को छोड़कर नहीं होते। जिसके अंदर धर्म के ये दश लक्षण घटित होते हैं यथार्थ में वही धर्मात्मा है। जिनमें ये नहीं दिखते , उन्हें धर्म-शून्य ही समझना चाहिए।

अब संक्षेप में दश धर्मों के लक्षणों को कहते हैं-

1. उत्तमक्षमा धर्म-क्रोध की उत्पत्ति, निमित्त, असह्य आक्रोशादि के संभव होने पर भी कालुष्य भाव का नहीं होना क्षमा-धर्म है तथा क्रोध नहीं करना, साम्यभाव को धारण करना और इन्हें कर्म का उदय समझकर समता को प्राप्त होना ही उत्तम क्षमा धर्म है, इसलिए ''क्षमा वीरो का आभूषण है।''

2. उत्तम मार्दव धर्म-उत्तम जाति, कुल, रूप, विद्वत्ता, ऐश्वर्य, श्रुतज्ञान, लाभ, वीर्य की शक्ति आदि से युक्त होने पर भी तत्कृत मद। अभिमान का अभाव होना तथा दूसरों के द्वारा पराभव के निमित्त उपस्थित किए जाने पर भी अभिमान नहीं होना उत्तम-मार्दव-धर्म है।

तिजोगस्स सरलादा कुडिलभावाभावो व अज्जवधम्मो। अविच्छिण्णलोहणिवित्ती सउच्चं एवं सुचित्तभावो सुइत्तकम्मं उत्तमसुचिधम्मो। सज्जणेहिं साहुवयण-भासणं उत्तम-सच्चधम्मो। असच्चभासणाभावो एवं कढोरणिंदणीय-संभासणाभावो खलु उत्तमसच्चधम्मो।

पाणी - इंदियाणं असुहपउत्तिचागो उत्तमसंजमधम्मो। कम्मक्खायत्थं तवदि तवो। विसयकसाय-णिग्गहं किच्चा झाणज्झयण-भावं किच्चा जे अप्पणो झायंति ते पावंति उत्तमतवधम्मो। तच्चदो उत्तमतवधम्मं णिग्गंथसमणाणमेव होदि।

सयलपरदव्वादो मोहचागं किच्चा मणवयणकायादु णिव्वेदभावणालद्धी चागो। दाणकरणं लोहाभावो चागधम्मो।

3. उत्तम आर्जव धर्म-मन, वचन, काय की सरलता आर्जव धर्म है अथवा मन-वचन-काय की कुटिलता का अभाव उत्तमआर्जव-धर्म है।

4. उत्तम शौच धर्म-आत्यन्तिक लोभ की निवृत्ति शौच है और पवित्रता (शुचिता) का भाव एवं कर्म उत्तमशौच धर्म है।

5. उत्तम सत्य धर्म-सज्जनों के साथ साधु वचन बोलना सत्य है। सत् प्रशंसनीय मनुष्यों के साथ प्रशंसनीय वचन बोलना उत्तम-सत्य-धर्म है। असत्य भाषण नहीं करना तथा कठोर एवं निंदनीय संभाषण नहीं करना ही उत्तम-सत्य-धर्म है।

6. उत्तम संयम धर्म-प्राणी एवं इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना उत्तम-संयम-धर्म है।

7. उत्तम तप धर्म-कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है, वह तप है। विषय-कषायों का निग्रह कर ध्यान, स्वाध्याय भावों को करके जो आत्मा को भाते हैं, उन्हें तप धर्म की प्राप्ति होती है। यथार्थ में उत्तम-तप-धर्म निर्ग्रंथ मुनियों के ही होता है।

8. उत्तम त्याग धर्म-संपूर्ण पर-द्रव्यों से मोह का त्याग करके मन-वचन-काय से निर्वेद की भावना को प्राप्त होना त्याग है। दान देना,

दाणं चदुविहं । ओसहं सत्थं अभयं आहारं चेदि । सुपत्ताणि णिद्दोसदव्वदाणं हि उत्तमचागधम्मो।

ममेदं भावाभावो परदव्वादु ममत्तिं चागो आकिंचण्हं। णिप्परिग्गही होदूणं सुहदुक्ख-पदायगाणं णियभावाणं णिग्गहं किच्चा जे णिद्दुंदभावा धारंति ताणं अणगाराणं आकिंचिण्ण-धम्मो होंति। केवलं णिसहावगहणं परपदत्थादु पुहं णिवसणं च उत्तमाकिंचण्ण - धम्मो त्थि।

आदा परमं बंभं। णियबंभरदं हि परमबंभचेरं। ववहारिग-दिट्ठीए सयलित्थिं पडि मादुभाव-सब्भावो; णियादु उत्तमं मादुदिट्ठीए णियादु लहुविं पुत्तिदिट्ठीए एवं समाणस्स भगिणिदिट्ठीए दंसणं तहा सयल-अव्वदभावचागो उत्तमबंभचेरधम्मो।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

लोभ का अभाव होना त्याग-धर्म है। औषधदान, शास्त्रदान, अभयदान, अहारदान ये चार प्रकार के दान हैं। सत्पात्रों को निर्दोष द्रव्य का दान देना ही उत्तम-त्याग-धर्म है।

9. उत्तम आकिंचन्य धर्म-ममेदं भाव का अभाव होना अर्थात् पर-द्रव्यों से ममत्व का त्याग करना उत्तम आकिंचन्य धर्म है। परिग्रह से रहित होकर सुख-दुःख देनेवाले निज भावों का निग्रह करके जो निर्द्वन्द भावों को धारण करते हैं उन अनगारों के लिए आकिंचन्यधर्म होता है। एकमात्र निज स्वभाव को ही स्वीकारना और पर-पदार्थों से भिन्न रहना उत्तम-आकिंचन्य धर्म है।

10. उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म-आत्मा ही परम ब्रह्म है। निज ब्रह्म में लीन होना ही परम-ब्रह्मचार्य है। व्यवहारिक दृष्टि से स्त्री मात्र के प्रति मातृभाव का होना, अपने से श्रेष्ठ को माता की दृष्टि से, अपने से छोटी को पुत्री की दृष्टि से, बराबर के लिए बहिन की दृष्टि से देखना संपूर्ण अव्रत भाव का त्याग ही उत्तम-ब्रह्मचर्य-धर्म है।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

खमावाणी जगक्कल्लाणी

अहो पण्ण ! जगे कोवि पुरिसो पज्जायदिट्ठीए सासयो णत्थि। समयसीमाए सव्वे विलिज्जिस्संति, पज्जयविणासे समयो ण लग्गेज्जा। परपज्जाए उवज्जिदं असुहभावफलं तुवं सयमेव भोगिहिसि। माणवा जदि भवणासस्स पुव्विं णियभावणाओ विसुज्झंति दु उत्तमं, इदं धुवं सच्चं। परदव्वाणं परमप्परूव-भावीभगवं अप्पादु वेरं मा धारेज्ज। भोदिगपदत्थवेहवं अत्थेव अच्छेज्जा हंसो एगो हि गच्छेज्जा। जदि तुमं समए खमाधम्मं धारित्तु दु णियं भगवं करहि अण्णहा णरयगदी मुहं उग्घाडदि, तुमं कुव्व कसायं मे गहे तुज्झ वि ठाणं।

'मित्तिभावो मे जगे सयलजीवं पडि णिच्चो हुवमु'-इदं सुत्तपाठं वाणीमेत्ते ण हुव, सयलजीवं पडि मित्तिभावो हुज्जा।

''क्षमावाणी जगत्-कल्याणी''

अहो प्रज्ञ! जगत् में कोई भी पुरुष पर्यायदृष्टि से शाश्वत होकर नहीं आया। एक समयसीमा के अंदर सभी विलीन हो जाएँगे, पर्याय नष्ट होने में समय नहीं लगेगा, परपर्याय में उपार्जित अशुभ परिणामों का फल तुझे स्वयं ही भोगना होगा। मनुष्य यदि भवनाश होने के पूर्व ही अपनी भावनाओं को पवित्र कर लें तो श्रेष्ठ होगा, यह ध्रुव सत्य है। पर-द्रव्यों के कारण परमात्मरूप भावी भगवान् आत्माओं से बैर धारण मत कर, क्योंकि भौतिक पदार्थों का वैभव यहीं रह जाएगा, हंस अकेला ही जाएगा। तुम समय रहते चाहो तो क्षमा-धर्म को धारण कर स्वयं को भगवान् बना लो, अन्यथा नरकगति मुख खोले बैठी है कि आप कषाय करो, मेरे यहाँ आपके लिए भी स्थान है।

''मेत्री-भाव जगत् में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे' इस सूत्र का पाठा मात्र वाणी में न रहे, प्राणीमात्र के प्रति मैत्री-भाव होना चाहिए। मैत्री का अर्थ

कंठसंलग्गं हत्थादु हत्थमेलणं मित्ती णत्थि। सयलजीवं पडि अदुक्खभावो मित्ती। तुमं जगं पडि मित्ति-भावभावणं करित्था। मे मित्त ! तम्हि जगम्हि तुज्झ सत्तुं पि वससि, तं पडि वि तुज्झ परिणामो णिम्मलो वसेज्जा।

लोए पत्तेगजीवो भगवं अप्पा, कं पडि वेरं धारेह? दोसबुद्धिविणासं कुण, सम्मभावं धार। खमं वाणीए सह णियभावेसुं वि धार। खमावाणीपत्तं मित्तेहिं सह तत्थ वि पेस जत्थ तुज्झ मणो कालुस्सं पप्पं। पज्जायविलीणदाए पुव्विं कसायविलयं कुण। णत्थि कालविण्णाणं कदा जीवस्स आउकम्मक्खयं भजिस्सदि तम्हा खणमेत्तं पि खमाए विणा मा जिय।

खमावाणी-दिणे सगरिउगहे गच्छित्तु भास-मे मित्त ! तुम मे मित्तेण सह रागदोसरहिद-सिद्धसरूवी-भगवं अप्पा। मज्झ

किसी के गले से लग जाना, हाथ से हाथ मिलाना नहीं है, अपितु मैत्री का अर्थ प्राणी-मात्र के प्रति अदु:खभाव है। मनीषियो! आप जगत् के प्रति मैत्रीभाव की भावना करते हो, मेरे मित्र! उस जगत् में आपका शत्रु भी रहता है, उसके प्रति भी आपके परिणाम निर्मल रहना चाहिए।

लोक में प्रत्येक जीव भगवान्-आत्मा है, किसके प्रति वैर धारण करते हो? द्वेष बुद्धि का नाश करो और साम्य-भाव धारण करो, क्षमा मात्र वाणी में ही नहीं, अपने भावों में भी धारण करो। क्षमावाणी-पत्र मित्रों को भेजने के साथ-साथ, वहाँ भी भेजिए जहाँ पर आपका मन कालुष्य को प्राप्त है। अहो ज्ञानी! पर्याय के विलीन होने के पूर्व कषायों को विलय कर लेना। समय का ज्ञान नहीं है कि जीव का आयुकर्म कब क्षय को प्राप्त हो जाए, इसलिए ध्यान रखो, एक क्षण भी बिना क्षमा के नहीं निकालना।

ज्ञानी आत्माओ! क्षमावाणी के दिन अपने शत्रु के गृह में जाकर कहना, मेरे मित्र! आप मेरे मित्र ही नहीं, आप तो राग-द्वेष रहित

तुब्भ ण रागो णेव दोसो। जो हं रागदोसवसा अकरणीय-कज्जं कदो अहवा पमाएण तुज्झ पडिकूलवयणं भासिदो तं सव्वं पडि खमं ओभासेमि।

आदा खलु परमखमासहावी। सहावजाचणं ण कीरदे एवं जाचणेण सहावलद्धी ण होदि। सहावो सहवो एव। जहा-दुद्धे महुरत्तगुणो सहजो तहेव अप्पणो खमाधम्मो सहजो साहाविगो। ववहारेण खमं परोप्परं वरंति, णिच्छएण अप्पलीणत्तं परमं खमं। खमा अवणि व्व विसाला। जहा पुढवी सव्व-पुप्फहारा सव्व-पहारा सहंति तहेव खमासीलो पसंसाए पुप्फहारा णिंदाए पहारा जाणगभावेण अणुहवदि एवं पबलविसमदा-समएसु भावा अविचलिदं करंतं कोहं माणं च वसीकरणत्थं उज्जमदि।

सिद्धस्वरूपी भगवान् आत्मा हो। मेरा आपसे न राग है, न द्वेष है। जो मैंने राग से या द्वेषवश न करने योग्य कार्य किया हो अथवा प्रमाद से आपके प्रतिकूल कुछ भी कहा हो, उन सबके प्रति मैं क्षमा-याचना करता हूँ।''

सत्यार्थ दृष्टि से देखा जाए तो आत्मा तो परम क्षमा-स्वभावी है। स्वभाव की किसी से माँग नहीं की जाती और न स्वभाव माँगने से प्राप्त होता है। स्वभाव, स्वभाव ही होता है। जैसे दुग्ध के अंदर माधुर्यगुण सहज है, किसी के द्वारा डाला नहीं जाता, उसी प्रकार आत्मा का क्षमा-धर्म सहज स्वाभाविक है। व्यवहार-दृष्टि से क्षमा परस्पर माँगते हैं, निश्चय से आत्मलीनता ही परम क्षमा है। क्षमा विशाल है, पृथ्वी तुल्य है। जैसे पृथ्वी सभी के पुष्पहारों एवं प्रहारो को सहन करती है, उसी प्रकार क्षमाशील पुरुष भी प्रशंसा के पुष्पहारों या निंदा के प्रहारों, दोनों को ज्ञायक भाव से अनुभव करता है और प्रबल विषमता के क्षणों में भावों को विचलित न करते हुए क्रोध को ही नहीं, मान को भी वश में करने का प्रयास करता है।

कोहवेगं णिमंतणं माणकसायो जच्छदि। जावं पसंसासद्दा सुणंति तावं सव्वजीवा सीयला हुंति। णारद-मंथरा इव पउत्तमाणजीवेहिं कडु-आलोयणाए सगं सुरक्खाणं एवं अक्कोसपुण्ण-भावा वाणीए मुहे वि अणागमणं उत्तमखमावाणी।

अण्ण-किद-णिंदं सव्वे सहंति, मित्तपुत्त-किद-आलोयणं सुणिदूणं असंतत्तभाव-सब्भावो एवं कम्मविवागं भासित्तु संतवसणं खमं। अणत्थमूलं कोहो। अग्गी तमेव पलीवेदि जो उवाणलं गच्छदि। कोहग्गीदो सयल-कुलाणि पलीवदि। कोहग्गिं खमाए सीयलसलिलेण उवसमिज्जदि। तम्हा वाणीए सह भावेसु वि खमा होज्जा।

'क्रोध' के वेग को निमंत्रण तो 'मान' कषाय ही देती है। जब तक प्रशंसा के शब्द सुनाई पड़ते हैं, तब तक सभी व्यक्ति शीतलचंद्र होते हैं, नारद एवं मंथरा जैसे प्रवृत्ति वाले जीवों द्वारा कटु आलोचना की जाने पर भी अपने आपको संभालकर चलना और आक्रोशपूर्ण भाव वाणी में आना तो दूर आक्रोश पूर्ण भाव चेहरे पर भी नहीं आने देना उत्तम क्षमावाणी है।

अन्य के द्वारा निंदा की जाए तो सब सहन करना जानते हैं, परन्तु मित्र या पुत्र के द्वारा की गई आलोचना को सुनकर भी संतप्त नहीं होना, बल्कि कर्म-विपाक कहकर शांत रह जाना क्षमा है। अनर्थों की जड़ क्रोध है। अग्नि उसे जलाती है, जो अग्नि के पास जाता है, परन्तु क्रोधाग्नि सारे कुटुम्ब को जला डालती है। क्रोधाग्नि को क्षमा के शीतल जल से शांत किया जा सकता है। इसलिए वाणी में नहीं, भावों में भी क्षमा होनी चाहिए।

णिहिललोए दसलक्खणपव्वो एगो एसो पव्वो जस्स पारंभो सम्मसहावेण (उत्तमखमा-धम्मेण) होदि तहा अंतो सम्मसहावी - खमावाणीए होदि। उत्तमखमाधम्मेण पज्जुसणपव्वो पारंभदि एवं दसधम्माराहणं करंतं जीवभावा दविदा होंति। तेसिं कसायभूमीए अणुराग-वच्छल्लस्स उव्वरासत्तीए पयडीकरणं होदि एवं खमाभावस्स अंकुरो खमावाणीरूवे फुडुंति।

जदि सयलदेसा खमावाणी-पव्वुस्सवं पारंभति दु विस्ससंतिवत्ता पत्तेण सह हिदयपडले आगमेस्सदि। णिहिल- विस्सो एगपरिवारो व्व णिवसेज्जा। जादि-संपदाय-पएस- भासा-पहुदि-वियप्पा खमामेत्तेण वच्चिस्संति। णणु खमाए सह वाणी-सद्दपओगो किमु कुज्जा? जो जीवो कोहावेगे संभासणं

समस्त ब्रह्माण्ड में दशलक्षण पर्व ही एकमात्र ऐसा पर्व है, जिसका प्रारम्भ साम्य-स्वभाव (उत्तम क्षमा-धर्म) से होता है और साम्य-स्वभावी क्षमा-वाणी से समापन होता है। उत्तम-क्षमा धर्म से पर्युषण पर्व प्रारंभ होता है और व्यक्ति के भाव दश-धर्मों की आराधना करते हुए आर्द्र हो जाते हैं और उनकी कषाय-भूमि में प्रेम वात्सल्य की उर्वरा शक्ति का प्रकटीकरण होता जाता है और क्षमा-भाव के अंकुर क्षमावाणी के रूप में स्फुटित होने लगते हैं।

यदि सारे राष्ट्र क्षमावाणी पर्व को मनाना प्रारंभ कर दें तो विश्वशांति की वार्ता कागजों पर ही न होकर हृदय-पटल पर आ जाएगी। सारा विश्व एक परिवार की भांति निवास करेगा। जाति, सम्प्रदाय, प्रांत, भाषा आदि के विकल्प क्षमामात्र से समाप्त हो जाएँगे। किसी के अंतःकरण में एक प्रश्न आ सकता है 'क्षमा' के साथ 'वाणी' शब्द का

वोसरदि तत्थ संधी बहु-दुग्गमा। बहुविवादे वि वाणीचागं ण कुज्जा। जो वयणालावं परोप्परं करेदि, तेणं कासाइगभावो सहसा वच्चदि। जे संभासणं मुद्दंति तेसिं अंतरंगे तिव्वासुहवियार-अवली-णिम्माणं होंति। एवं परोप्परं भमेण असुहदम-वियाराणं उब्भवो होदि। संभासणादु सा अवली तुट्टदि व खमा वाणीए वि आगच्छदि तहा भावेसुं च आगच्छदि। खमावाणीपव्वो सव्वस्स परिणामेसु सामण्णस्स कारणं होदु। एवचेव मंगलभावणा।

।। जयदु भगवं महावीरो।।

।।इदि अलं।।

प्रयोग क्यों किया गया? इसका एकमात्र उत्तर यह है कि, जो व्यक्ति क्रोध के आवेग में बोलना छोड़ देता है वहाँ समझौता बहुत कठिन हो जाता है। वाणी का त्याग नहीं करना चाहिए, चाहे कितना ही विवाद हो जाए। जो वचनालाप परस्पर में करता रहता है, उससे काषायिक भाव शीघ्र समाप्त हो जाता है, परन्तु जो बोलना ही बंद कर देते हैं उनके अंतरंग में तीव्र अशुभ विचारों की शृंखला निर्मित होती जाती है और एक-दूसरे के प्रति भ्रम के कारण अशुभ से अशुभ विचारों का जन्म होता रहता है। बोलने से वह शृंखला टूट जाती है और क्षमा 'वाणी' में भी आ जाती है और भावों में भी आ जाती है। क्षमावाणी पर्व सभी के परिणामों में समत्व का कारण बने यही मंगलभावना ।

।।भगवान् महावीर स्वामी की जय।।

।।इत्यलं।।

अणुवादगा-पसत्थी

साणुहव-तरंगिणी-गंथस्स मूलपणेदा गणायरिय-विरागसायरस्स सुसिस्सो अज्झप्पजोइ - णायमत्तंड- समणायरियो विसुद्धसायरो त्थि। जिणवीदराग-पाद-पउमाराहगो गुरुभत्तो अप्पण्हु-समणो आदिच्च-मुणी गुरुपसाएण गुरु- आणाए य इमस्स अभूदपुव्वगंथस्स पागिद-अणुवादं किदो। वीर-णिव्वाणं 2541 फागुणमासे किण्ह-पक्खो सत्तमी-तिहीए सादि-णक्खत्ते वड्ढिजोगे सुपासजिण-मोक्खकल्लाणगदिवसे चंदप्पहजिण-णाणकल्लाणगदिवसे य जिणालयाणं णयरी मडावराए पढम-तित्थेस-उसहदेवचरणेसुं अयं गंथो आरंभिदो। मज्झमंगलं सिद्धखेत्ते मदणपुरे पंचकल्लाणग - पदिट्ठा- महुस्सवे जादं। 1011 सिलोगपमाणे अयं गंथो वीर-णिव्वाणं 2541

''अनुवादक की प्रशस्ति''

'स्वानुभव तरंगिणी' नामक इस ग्रंथ के मूल प्रणेता गणाचार्य श्री 108 विराग सागर जी के सुशिष्य अध्यात्मयोगी न्यायमार्तण्ड श्रमणाचार्य श्री 108 विशुद्धसागर जी हैं। जिनवीतराग-पादपद्माराधक गुरुभक्त अल्पज्ञ श्रमण आदित्य मुनि ने गुरुप्रसाद और गुरु-आज्ञा से इस अभूतपूर्व ग्रंथ का प्राकृत-अनुवाद किया। वीर निर्वाण 2541 फाल्गुन मास के, कृष्ण पक्ष में, सप्तमीतिथि में, स्वातिनक्षत्र में, वृद्धियोग में भगवान् सुपार्श्वनाथ स्वामी के मोक्ष कल्याणक एवं चंद्रप्रभ स्वामी के ज्ञान कल्याणक के शुभ दिवस में जिनालयों की नगरी मडावरा में प्रथम-तीर्थेश आदिप्रभु की चरणनिश्रा में यह ग्रंथ प्रारंभ किया। मध्य-मंगल सिद्धक्षेत्र मदनपुर में पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा महोत्सव में सम्पन्न हुआ। लगभग 1011 श्लोक प्रमाण यह ग्रंथ वीर-निर्वाण 2541 चैत्र मास, अमावस्या में अनंतनाथ स्वामी के ज्ञान कल्याणक एवं अरनाथस्वामी के मोक्ष कल्याणक के दिन अरनाथ स्वामी की चरणनिश्रा में दिगंबर जैन

चेत्तमासे अमावस्साए अणंतजिण-णाणकल्लाणगदिवसे अरजिण-मोक्खकल्लाणगदिवसे अरणाहचरणेसु दियंबर-जेण्ह-अदिसय-खेत्ते णवागढे णंदपुरणयरे समत्तो। अणुवम-पमेयजुत्त-अहिणवगंथस्स पागिद-अणुवादं गंथसंखावड्ढीए ण करेमि, भव्वेसुं सम्मत्तगुण-वड्ढणत्थं सुदसंवड्ढणत्थं च करेमि। जावं अप्पम्हि पमेयत्तादि-अचेयणगुणा तावं अयं गंथो इह वसुहाए जयदु।

जयदु भगवं वीरो, जयदु तस्स सासणं।
जयदु सुविसुद्धो य, जयदु तस्स देसणा।।

।। इदि बीअ-गंथस्स अणुवादो।।

अतिशय क्षेत्र नवागढ नंदनपुर में सम्पन्न हुआ। अनुपम प्रमेय युक्त अभिनव ग्रंथ का प्राकृतानुवाद मैंने ग्रंथ संख्या की वृद्धि के लिए नहीं किया अपितु भव्य जीवों में सम्यक्त्व गुण की वृद्धि एवं श्रुत के संवर्धन हेतु किया है। जब तक आत्मा के अंदर प्रमेयत्वादि अचेतन गुण रहेंगे, तब तक यह ग्रंथ इस वसुधा पर जयवंत हो।

भगवान् महावीर स्वामी नाथ पुत्र जयवंत हो और जयवंत हो उनका शासन। गुरुवर आचार्य विशुद्ध सागर जयवंत हो और जयवंत हो उनकी देशना।

।। इस प्रकार द्वितीय ग्रंथ का अनुवाद पूर्ण हुआ।।

परम पूज्य चर्या शिरोमणि, अध्यात्मयोगी, श्रमणाचार्य 108 श्री विशुद्धसागर जी महाराज द्वारा रचित साहित्य विवरण-

- नियम-देशना (भाग-1, 2, 3)
- पुरुषार्थ-देशना (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी)
- समय-देशना (भाग 1 से 17 तक) (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी)
- सद्-देशना (भाग 1 से 6 तक)
- सद्-ज्ञान-देशना (भाग 1, 2) (अप्रकाशित)
- अध्यात्म -देशना (हिन्दी/अंग्रेजी)
- तत्त्व-देशना
- प्रेक्षा-देशना
- सर्वोदयी-देशना
- स्वरूप-देशना
- श्रावक-धर्म देशना
- सागार-अनगार-धर्म देशना
- सामायिक-देशना (हिन्दी/मराठी)
- श्रमण-धर्म देशना
- परमार्थ-तत्त्व देशना (अप्रकाशित)
- तत्त्वार्थ-देशना (अप्रकाशित)
- प्रकृष्ट-देशना (अप्रकाशित)
- सोलह कारण भावना अनुशीलन (अप्रकाशित)
- समाधितंत्र-अनुशीलन (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी/प्राकृत)
- इष्टोपदेश-भाष्य (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी/प्राकृत)
- स्वरूप-संबोधन परिशीलन (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी/संस्कृत)
- पंचशील सिद्धांत (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी)
- शुद्धात्म-तरंगिणी (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी)

- स्वानुभव-तरंगिणी (हिन्दी/अंग्रेजी/मराठी/प्राकृत)
- निजात्म-तरंगिणी
- निजानुभव-तरंगिणी
- शुद्धात्म काव्य तरंगिणी
- तत्त्व-तरंगिणी
- आत्म-बोध
- तत्त्व-बोध
- बोधि-संचय (हिन्दी/अंग्रेजी)
- अमृत बिंदु
- अर्हत् सूत्र
- देशना बिंदु
- देशना संचय
- आइना
- अध्यात्म-प्रमेय
- विशुद्ध मुक्ति पथ
- विशुद्ध काव्याञ्जलि
- विशुद्ध वचनामृत (हिन्दी/अंग्रेजी)
- स्वानुभव (हिन्दी/अंग्रेजी)
- प्रवचन-प्रभा (हिन्दी/अंग्रेजी)
- गुरवो भवन्ति शरणं
- चिंता रहस्य
- दिव्व-वयणं (प्राकृत/हिन्दी/अंग्रेजी)
- भव्व-वयणं (प्राकृत/हिन्दी/अंग्रेजी)
- बोध-वाक्यामृत (9 भाषाओं में)

साहित्य पर आधारित अन्य कृतियाँ –

- समाधितंत्र-इष्टोपदेश समीक्षा
- पुरुषार्थ-देशना अनुशीलन
- अध्यात्म-देशना अनुशीलन
- तत्त्व-देशना समीक्षा
- स्वरूप-संबोधन परिशीलन विमर्श
- सर्वोदयी-देशना समीक्षा
- समय-देशना मीमांसा
- स्वरूप-देशना विमर्श

जीवन–वृत्त –

- आदर्श-श्रमण
- अध्यात्म का सरोवर
- प्रत्यग्-आत्मदर्शी
- अध्यात्म योगी
- स्वसंवेदी-श्रमण
- विशुद्ध-दर्शन

प्राप्ति स्थान –

- श्रमण संस्कृति सेवा समिति, इंदौर, मो. 9425053171, 9425321151
- श्री नंदीश्वर जिनालय, भोपाल, मो. 9425374897
- जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर, मो. 9421040022